जातीयता का अभिशाप और चौधरी चरण सिंह

डा॰ नत्थन सिंह

जातीयता का अभिशाप और चौधरी चरण सिंह

डा. नत्थन सिंह
पूर्व रीडर एवं विभागाध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
जनता वैदिक कालेज, बड़ौत (मेरठ)

किसान ट्रस्ट

प्रथम संस्करण : फरवरी 1998

© नत्थन सिंह

मूल्य : 30.00 रुपये

प्रकाशक : ए. वी. सेतुमाधवन्
किसान ट्रस्ट, एम-1, मैग्नम हाउस-II,
कम्युनिटी सेन्टर, कर्मपुरा, नई दिल्ली-110015

मुद्रक : पवन प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

भूमिका

हमारे देश में जाति व्यवस्था प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इसी व्यवस्था के कारण समाज के कुछ वर्गों ने खुद को दूसरों से श्रेष्ठ और उच्च समझा और अन्य को निम्नतर व हीन बताने का भरसक प्रयास किया। समाज में जाति व्यवस्था के कारण ही सामाजिक जीवन, आर्थिक-सामाजिक शोषण के चलते इतना विषाक्त हो गया कि व्यक्ति के मनो-मस्तिष्क में जन्मे एक-दूसरे के प्रति द्वेष और घृणा के वातावरण ने समाज को ही टुकड़े-टुकड़े कर दिया। जातिवाद के बारे में चौधरी साहब का कहना था कि जातिवाद समाज का कलंक है और इसी के कारण भारत के विभिन्न धार्मिक-जातीय समूह सामाजिक और राजनीतिक रूप से एक-दूसरे के समीप नहीं आ सके और एक सुदृढ़ समाज का निर्माण नहीं हो सका। जातिवाद ही हमारी राजनीतिक दासता का मूल कारण रहा है, जिसके कारण ही अंततः देश का विभाजन हुआ। उनका मानना था कि कोई भी देश तब तक शक्तिशाली नहीं हो सकता, जब तक कि जाति प्रथा का उन्मूलन न कर दिया जाए।

हर्ष की बात है कि जातीयता जैसी समाज की विषम समस्या पर किसान ट्रस्ट एक पुस्तक प्रकाशित कर रहा है। इस रोग ने हमारे समाज को पूरी तरह अव्यवस्थित कर दिया है। दुःख इस बात का है कि इस समस्या ने आज विकराल रूप धारण कर लिया है। लेखक ने वैदिक काल से लेकर आज तक इस समस्या के आंकलन का गंभीर प्रयास किया है और प्राचीन काल तथा इसके बाद समय-समय पर हुए परिवर्तनों के जरिये यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि इसके लिए असलियत में कौन जिम्मेदार है। यह पुस्तक जाति व्यवस्था के संबंध में पाठकों को विस्तृत जानकारी देने में सहायक सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

नई दिल्ली — **–अजित सिंह**

18 फरवरी 1998 — अध्यक्ष, किसान ट्रस्ट

प्रकाशक की ओर से

जाति-प्रथा ही हमारी राजनीतिक दासता का मूल कारण रही है, इस तथ्य को चौधरी चरण सिंह जी ने समझा और अपने तर्कों से यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि जाति व्यवस्था के दुष्प्रभावों के चलते हमारा समाज राजनैतिक एकता स्थापित करने में असमर्थ रहा और इसी कारण हम विदेशी आक्रांताओं का मुकाबला कर पाने में नाकाम रहे। उन्होंने जाति प्रथा को देश के लिए अभिशाप माना। वह आजीवन जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। उन्होंने समय-समय पर जाति व्यवस्था के दुष्परिणामों से देश के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू सहित अन्य शीर्षस्थ नेताओं को आगाह भी किया और इसके निदान हेतु सुझाव भी दिये। लेकिन विडम्बना यह कि इस सबके बावजूद उन पर जातिवादी होने के आरोप लगाये जाते रहे, जिनका उत्तर समय-समय पर वह देते भी रहे।

प्रस्तुत पुस्तक जातिवाद के संबंध में चौधरी साहब के विचारों और वर्ण-व्यवस्था से लेकर आज तक जातिवाद के परिणामों का सिलसिलेवार खुलासा करती है। हमारा प्रयास है कि जातिवाद के बारे में पुरातनकाल से लेकर वर्तमान काल तक की लोगों को विस्तृत जानकारी मिले, इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए किसान ट्रस्ट यह पुस्तक प्रकाशित कर रहा है।

–ए. वी. सेतुमाधवन

प्राक्कथन

हमारे देश की महान् सांस्कृतिक विरासत के सुन्दर एवं सुगंधित उपवन में कई प्रकार की कांटेदार झाड़ियों का अस्तित्त्व भी मिलता है, जो इस देश के अधिकांश नागरिकों के जीवन में कांटे बिखेरती रही हैं। सामाजिक जीवन को विषाक्त तथा पीड़ादायक बनाने वाली इन झाड़ियों में जातीय अभिशाप, धर्म के नाम पर खड़ा किया गया आडम्बर, वैदिक-एकता को भंग करके पैदा किया गया स्पृश्य और अस्पृश्य का भेद और गरीबी आदि की गणना की जा सकती है।

संसार का कोई विचारशील व्यक्ति उस समाज को श्रेष्ठ नहीं बता सकता, जिसमें ऊंच-नीच, छूत-अछूत, गरीब-अमीर और स्पृश्य-अस्पृश्य का भेदभाव पाया जाता है। विडम्बना यह है कि एक वर्ग विशेष के लोगों ने, सब प्रकार के अन्तर को, भगवान की देन कहकर सहस्त्रों वर्षों तक लोगों का मानसिक तथा आर्थिक शोषण भी किया। इस शोषण के विरोध में जो भी खड़ा हुआ, उसको तथाकथित धर्म के ठेकेदारों ने दस्यु, दानव और शूद्र कहकर समाज में तिरस्कार का पात्र बनाने का प्रयास किया। धार्मिक पाखण्डों तथा सामाजिक कुरीतियों के शोषण से जनता को मुक्त करने वाले महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी और महर्षि दयानंद तक को अनार्य, नास्तिक और धर्म-विरोधी तक कह दिया। यह काम किया—पुरोहितों, पुजारियों, मठाधीशों और राजाओं को ईश्वर का अवतार घोषित करने वाले तथा उनके मंत्रि-पदों पर आसीन लोगों ने।

इन लोगों ने, अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए, अपने वर्ग और जाति को, सबसे श्रेष्ठ बताया और दूसरों को हीन कहा। इसी वर्ग की मनोवृत्ति से प्रभावित होकर पुष्यमित्र ने बौद्धों का कत्ल किया और अंतिम मौर्यों को मार कर राज्य पा लिया। अब राज्य, सत्ता और सम्पत्ति इस वर्ग की एक मात्र कामना रह गई थी। इसी का प्रभाव भारत की राजनीति पर भी पड़ा।

जिस तरह वैदिक तथा उत्तर वैदिक, विशेषतः पुराण-काल में सत्ता पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, एक जाति अथवा वर्ग विशेष ने अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिये स्वयं को श्रेष्ठता की परिधि में बिठा लिया था और अपने से

मतभेद रखने वालों का महत्त्व कम करने के लिए आकाश-पाताल एक कर दिया था, उसी तरह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भ में, उसी जाति के वंशजों ने, खुद को सत्ता के आसन पर बनाये रखने के लिए, अनेक आदर्शों की घोषणाएं कीं, अनेक सिद्धांतों का बखान किया, अनेक आकर्षक वायदे किये और अपने विरोधियों को जातिवादी तथा संकीर्ण विचारधारा का घोषित करके भारत की राजनीति में, उनको अप्रासंगिक बनाने का प्रयास किया था। चौधरी चरण सिंह ही नहीं, अनेक देशभक्त इस दुष्प्रचार के शिकार बने थे।

जिस तरह वशिष्ठ आदि ऋषियों ने विश्वामित्र, अगस्त्य और कवष ऐलषु जैसे लोगों को नकारने तथा महत्त्वहीन बनाने के विफल प्रयास किये थे, वैसे ही चौधरी चरण सिंह पर लगाये गये जातीय संकीर्णता के आरोप के पीछे कौन-सा उद्देश्य निहित था, बीसवीं सदी की राजनीति की उस मनोवृत्ति को समझने के लिए यह जानना आवश्यक इसलिए है क्योंकि देश की बहुमुखी प्रगति साम्प्रदायिक एकता, जाति-निरपेक्ष राजनीति और धार्मिक समभावना पर आधारित होती है, थोथे आश्वासनों पर नहीं।

प्रस्तुत पुस्तक देश की राजनीति में व्याप्त जातीयता के अभिशाप को उजागर करने में समर्थ हो सकेगी, साथ ही, उस भ्रान्ति का निवारण भी कर सकेगी, जो सत्ता के मोह में, चौधरी चरण सिंह के विषय में पैदा की गई थी।

बड़ौत (मेरठ) —नत्थन सिंह
23 दिसम्बर 1997

अनुक्रम

1. जातिवाद : एक अभिशाप 1
2. जातीय विद्वेष के प्रसार की पृष्ठभूमि 3
3. योरोपीय जातियां और जातीय संकीर्णता 8
4. भारत में जातीय अभिशाप 10
5. जातीयता के कतिपय अन्य ऐतिहासिक सन्दर्भ 11
6. वैदिक युग और जातीयता की चरम सीमा 15
7. चौधरी चरण सिंह के अन्तर्मन में उदित जाति-विरोधी भावना 32
8. सत्रहवीं सदी और भारत में जातीयता का उभार 39
9. राजनीतिज्ञों द्वारा लगाये गये जातिवादी आरोप और चौधरी चरण सिंह की प्रतिक्रिया 48

1

जातिवाद : एक अभिशाप

भारत के पूर्व प्रधानमंत्री चौधरी चरण .सेंह, इस देश के उन चंद राजनीतिज्ञों और विचारकों में से एक थे, जो बड़ी गम्भीरतापूर्वक यह मानते थे कि इस देश की सबसे बड़ी कमजोरी जातिवाद है। इस कमजोरी के कारण ही आर्य चार वर्णों में बंट गये थे और बाद में सैकड़ों जातियों तथा हजारों गोत्रों में विभाजित हो गये थे। मनु की संतान पहले सूर्यवंश और चन्द्र वंश में बंटीं, फिर दोनों वंशों की संतानें कई जातियों में बंटकर टूट गयीं। प्रारम्भ में, इस देश में आर्य, द्रविड़, मुड़ या शाबर और किरात आदि जातियों का पृथक-पृथक अस्तित्त्व सामने आया, फिर इन सबके ऊपर आर्य छा गये और इस देश को, दुनिया का महान् शक्तिशाली देश बना दिया। आर्यों के प्रभाव से भारत न केवल सैनिक बल में महान् शक्ति के रूप में उदित हुआ था, वरन् ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्रों में भी उसकी उपलब्धियां, विश्व के अन्य लोगों के लिए, ईर्ष्या का विषय बन गई थीं। इसके अलावा, दुनिया के सबसे पुराने साहित्य वेदों की रचना का श्रेय भी भारत के विचारकों तथा विद्वानों को है। भारत के वैदिक-साहित्य ने, उसकी महान् एवं अविरोधी संस्कृति के गौरव की महत्ता का प्रतिपादन भी किया। किन्तु खेद है कि जो भारत कभी सोने की चिड़िया कहलाता था, वही गरीबी की सीमा रेखा से नीचे पहुंच गया; जिसमें दही तथा दूध की नदियां बहती थीं, उसके लाखों गांवों की जनता को पीने के लिए शुद्ध पानी का भी अभाव पैदा हो गया; जो ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी था, वह पाश्चात्य विद्वानों का मुंह ताकने वाला बन गया; जिसने दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र में दूसरे देशों के समाजों को पारंगत बनाया था, वह स्वयं इंग्लैण्ड की भौतिक संस्कृति के पीछे दौड़ने लगा और जिसकी तलवार में इतनी धार थी कि वह अनेक महान् संस्कृतियों को धराशायी करने वाले हूण, शक, मंगोल और ग्रीकों को भारतीय नायकों के सामने झुकने के लिए विवश कर सकी थी, वह इतनी कुंठित हो

गयी कि अरबों, ईरानियों, तुर्कों, पुर्तगालियों, फ्रांसीसियों एवं अंग्रेजों की गुलाम बन गयी। बड़े सबल आक्रांताओं का मुंह मोड़ देने वाली भारतीय जनता की शक्ति को इतनी गहरी जंग लगी कि वह दासता की चादर को ओढ़कर शताब्दियों तक सोती रही।

यदि देश की इस पराजित मनोवृत्ति, हीन-भावना, सांस्कृतिक-दासता, आर्थिक-दुर्बलता, सैनिक-बल की कमजोरी, वैचारिक-हीनता, साहसपूर्वक आगे बढ़ने की अक्षमता और परामुखपेक्षता के कारणों पर तटस्थता एवं निष्पक्षता के साथ विचार किया जाए तो एक ही कारण नजर आता है और वह है–जातीय-विद्वेष। इसी ने भाई को भाई से, विद्वान् को विद्वान् से, सैनिक को सैनिक से और ऋषि को ऋषि से लड़ाया और उसे गुलामी, गरीबी, आडम्बरप्रियता, अंधविश्वासपरक जड़ता, अशिक्षा एवं शक्तिहीनता की स्थिति तक पहुंचा दिया।

2

जातीय विद्वेष के प्रसार की पृष्ठभूमि

भारत के पतन की सीमा यहीं पर समाप्त नहीं हुई। ईसा पूर्व काल में, भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र के कई भू-भाग जो इस भूमि के अभिन्न अंग थे, जो भारत-भूमि के साथ रक्त के सम्बंधों, सांस्कृतिक-सूत्रों तथा सामाजिक बंधनों से बंधे थे, वे जातीय-विद्वेष के क़ारण अलग हो गये। अरब में खलीफाओं के उदय के पश्चात् अर्थात सन् 632 से लेकर 661 तक के काल में धार्मिक कट्टरता और जातीय वैमनस्य का ऐसा तूफान आया कि जनता का सांस्कृतिक तथा धार्मिक स्वरूप ही बदल गया। समूचा क्षेत्र इस्लाम की बाढ़ में डूब गया। इस्लाम का यह सैलाब और उसकी जातीय कट्टरता की लहरें ब्रिटिश-भारत में आकर ही कमजोर पड़ी थीं। अंग्रेजों ने, अपनी राजनीतिक सुरक्षा के लिए भारत के पश्चिमोत्तर सीमान्त को सील किया था। अफगानों के आक्रमणों को रोकना उनका उद्देश्य तो था, पर उसके पीछे उनके अपने स्वार्थ थे, भारत-भूमि और उसके मूल निवासियों का हित करना नहीं था। वे, देख चुके थे कि सन् 643 में अरबों ने ईरान के पूर्वी प्रान्त किरमान और सिजिस्तान अर्थात् शकस्थान को जीत लिया था, सन् 613 में वे कपिश की नई राजधानी काबुल पर टूट पड़े थे, सन् 644 में सिन्ध के राजा सिंहर्सराय (श्री हर्ष राय) से वे मकरान छीन चुके थे, सन् 710 में दाहिर से सिन्ध को हथियाने में मुहम्मद बिन कासिस सफल हो गया था, 724 में दाहिर के पुत्र जयसिंह को हराकर वे पुनः सिन्ध को हड़पने में समर्थ हो गये थे। सन् 739 में, वे कच्छ, भिन्नमाल, चित्तौड़, उज्जैन तथा सूरत को रौंदने में भी सफल हो गये थे, 1001 में महमूद गजनवी से सीस्तान में जयपाल तथा आनन्दपाल हार चुके थे, सन् 1023 में वह सौराष्ट्र को कुचलने तथा सोमनाथ को ध्वस्त करने में सफल हो गया था। इसके बाद भी यह क्रम निरंतर जारी रहा था। सन् 1178 में शाहबुद्दीन गौरी मुल्तान और सिंध को जीतकर गुजरात में आ धमका था। बाद में उसने अजमेर छीन लिया और पृथ्वीराज चौहान को

हराया। सन् 1194 में उसने कन्नौज के राजा जयचंद को हराकर कन्नौज तक अपना राज्य कायम कर लिया था। इस तरह भारत के अनेक स्थानों पर अरब अपना राज्य कायम कर चुके थे और यहां की जनता को, जातीय संकीर्णता और धार्मिक जनून, का शिकार बना रहे थे। अंग्रेजों ने, अपने अधिकार को, यानी भारत पर अपने राजनीतिक अधिकार को, सुरक्षित रखने के लिए नाकाबंदी की थी। वे, यह भी जानते थे कि तुर्कों ने, बार-बार भारत पर हमले किये थे। 1199 में मुहम्मद बिन बख्तयार खिलजी ने बुद्ध-विहार को छीनकर, समस्त प्रदेश पर अधिकार कर लिया था और अधिकृत क्षेत्र का नाम बिहार रख दिया गया था।

अंग्रेजों ने यह भी जान लिया था कि 1206 से 1236 यानी रजिया बेगम के काल तक, भारत ने जातीय वैमनस्य के विषम दिन देखे थे। हिन्दुओं पर जजिया लगाया गया था और धार्मिक कृत्यों को पूरा करने का काम समाप्त कर दिया गया था। यही क्रम खिलजी तथा तुगलक के शासन काल 1291 से 1388 तक चला। यवनों ने, यहां की जनता पर जजिया कर लगाया, उनके धार्मिक कार्यों पर रोक लगाई। यहां की सर्वखाप पंचायत ने इनके अत्याचारों का विरोध किया। फलतः दोनों पक्ष कमजोर हुए, उनकी सैनिक शक्ति का पराभव हुआ। अतः नये आक्रमणकारियों की बर्बरता से देश को नहीं बचा पाये। इसी दुर्बलता की स्थिति में, सन् 1398 में तैमूर दिल्ली पर आ धमका और दिल्ली को कुचल कर चला गया।

सन् 1503 में तैमूर का वंशज बाबर, उज्बकों के नेता मुहम्मद शैवानी से समरकंद के समीप,जरफ्शा नदी के पुल पर, हार कर तथा उसके डर से काबुल की ओर भाग आया था। इन घटनाओं से संकेत मिलता है कि जातीय उत्कर्ष की भावना तथा सत्ता-लोलुपता न केवल भारत के लिए ही भयंकर थी, वरन् ईरान तथा अफगानिस्तान की जनता के जीवन में भी विष घोल रही थी।

बाबर ने इब्राहिम लोदी और उसके चाचा अलाउद्दीन के मतभेदों से लाभ उठाया। वह राणा सांगा तथा अलाउद्दीन के निमंत्रण पर दिल्ली पर चढ़ बैठा और दिल्ली को इब्राहिम लोदी से छीनकर, राणा सांगा से 1528 में राजस्थान का एक भाग छीन लिया। इस प्रकार अंग्रेजों के भारत में जमने तक देश जातीयता के जहर को पीता हुआ कमजोरी की ओर बढ़ता रहा। सम्राट अकबर के दीन-ए-इलाही से, एक बड़ी सीमा तक, आपसी रक्तपात थमा, हिन्दू तथा मुसलमानों की रक्त-पिपासु तलवारें म्यान में चली गईं और देश शांति तथा सद्भावना के वातावरण में समृद्धि की ओर बढ़ता रहा, किंतु औरंगजेब का तैमूरी खून फिर उबल उठा। उसने फिर

से हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों को, दो-खेमों में, बांट दिया और दोनों ही जंग लगी अपनी शमशीरों पर शान चढ़ाने में जुट पड़े। इस्लाम की प्रगति और हिन्दू धर्म की रक्षा की भावना के पीछे देश-हित भुला दिया गया। छत्रपति शिवाजी तथा ब्रज-प्रदेश के जाट किसानों के औरंगजेब-विरोधी आन्दोलन में जन-सुरक्षा की भावना अधिक और जातीय विद्वेष की भावना बहुत कम थी। बाद में मराठा-अभियान और दिल्ली-शासन द्वारा आन्दोलन के दमन में, जातीय विद्वेष का भाव अधिक और देश का हित कम रहा। यही कारण है कि अब्दाली के आक्रमण के समय, मराठा सेनापति सदाशिवराव भाऊ के विपरीत, देश की समस्त मुस्लिम शक्तियां अब्दाली के पक्ष में चली गईं थीं। इस प्रकार का जातीय गठबंधन न तो मराठा-छत्र के नीचे नवोदित ब्राह्मण शक्ति के हित में सिद्ध हुआ और न देश के। नादिरशाह तो केवल दिल्ली की लूट से 15 करोड़ रुपये नकद और पचास करोड़ का सामान ले गया था, लेकिन अब्दाली तो मराठा शक्ति की कमर ही तोड़ गया था। नजीबुद्दौला और उसके धार्मिक गुरु सूफी-संत शाहबलीउल्लाह ने जिस जातीय विष के बीज बोये थे, वे न केवल दिल्ली की सल्तनत को ही बर्बाद कर गये, वरन् वे मुस्लिम जाति के विस्तार, फैलाव और उत्कर्ष की कमर भी तोड़ गये। इससे देश तो कमजोर हुआ, लेकिन जातीय वैमनस्य से, बुरी तरह उत्पीड़ित भारत के समाज को राहत मिली। किन्तु यह राहत भी स्थायी सिद्ध नहीं हुई। अंग्रेज-जाति ने, इस देश में अपने शासन को शाश्वत बनाने के उद्देश्य से, यहां की दो प्रमुख जातियों-हिन्दू और मुसलमान को लड़ाने की योजना बनाई। सन् 1857 के प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन में, दोनों जातियों के मेल, सहयोग और स्वाधीनता के लिए किये जाने वाले संगठित संघर्ष से, दोनों जातियों की एकता को, अंग्रेज अपने राज्य के लिए बहुत बड़ा खतरा समझने लगे थे। उन्होंने दोनों जातियों को भाषा-हिन्दी तथा उर्दू के सवाल पर लड़ाया, मंदिर तथा मस्जिद के नाम पर लड़ाया, मुहर्रम तथा दशहरा के जुलूस के प्रश्न पर संघर्ष के लिए तैयार किया, फलतः दोनों जातियों की एकता तथा भाईचारा खत्म हो गया और इसके साथ ही देश पर अंधकार का पर्दा पड़ता चला गया। मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ़ जातीय विद्वेष का केन्द्र बनी। वहां के छात्रों ने मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे देशभक्तों का अपमान किया और कूपलैण्ड जैसे पृथकतावादियों के गले में फूलों की मालाएं डालीं। भारत के वायसराय कर्जन ने सन् 1904 में बंगाल का विभाजन करके, एक प्रकार से, देश के बंटवारे की नींव रख दी थी। आगे चलकर, वही पूर्वी-बंगाल, पूर्वी पाकिस्तान बना। वहां के हजारों अल्पसंख्यक हिन्दुओं को मौत के घाट उतार दिया गया। लाखों की संख्या में पूर्वी-पाकिस्तान से आये शरणार्थी बंगाल

के विकास पर व्यय होने वाले धन को खा गये। विकास का कार्य रुक गया और जातीय विद्वेष की आग को शांत करने पर पानी की तरह पैसा बहने लगा।

ठीक इसी प्रकार की घटना उत्तर-पश्चिम भारत के करांची, लाहौर, स्यालकोट, रावलपिंडी, ननकाना साहब, सिन्ध, बलोचिस्तान आदि प्रदेशों में हुई। लाखों की संख्या में, हिन्दू शरणार्थी भारत आये और अपने साथ जातीय विद्वेष तथा संकीर्ण धार्मिक घृणा का ऐसा गुबार लेकर आये कि वर्षों तक उनकी आत्मा दुखी होती रही। भारत से जो मुसलमान पाकिस्तान गये थे, वे आज भी मुजाहिदों के रूप में, शोषण तथा उत्पीड़न के शिकार हैं। जातीय विद्वेष ने, पाकिस्तान में मानवीय अधिकारों की जो होली जलाई है, उससे आज संसार अवगत है। शिया और सुन्नी का संघर्ष पाकिस्तान को लांछित करता है। मानव-अधिकार कमीशन, पाकिस्तान को मानवाधिकार उल्लंघन का दोषी ठहरा चुका है।

भारत में हिन्दू-मुस्लिम कट्टरता का विरोध करने वाले सरहदी गांधी खान अब्दुल गफ्फार खां, डॉ. जाहिर हुसैन, मौलाना आजाद, रफी अहमद किदवई, डॉ. अंसारी साहब, डॉ. जेड. ए. अहमद और अनेक राष्ट्रीय मुसलमान भी थे, पर जातीय-जनून में, बात मि. जिन्ना की सुनी गई। अंग्रेजों के भड़कावे पर भारत के उत्तर-पश्चिम और पूर्वी भाग के मुसलमान भाई चाकू, तलवार और आगजनी से काम लेने लगे। इसकी प्रतिक्रिया देश के अन्य भागों में होनी स्वाभाविक थी। फलतः समूचा देश जातीय द्वेष की लहर में डूब गया और इसका अन्त हुआ देश के विभाजन में।

देश के विभाजन का बीज अवश्य मि. जिन्ना तथा उनके अंग्रेज पथ-प्रदर्शकों ने बोया था, पर उसको सींच कर पनपाने का काम, भारत के उच्च-वर्गीय बुर्जुआ बुद्धिजीवियों और कांग्रेस के साये में पलते उद्योग-पति सरमाये दारों के अलावा राजाजी-फार्मूले ने किया था। फार्मूला के अनुसार, स्वाधीनता की मांग के लिए प्रस्तुत कांग्रेस के प्रस्ताव का समर्थन मुस्लिम लीग को करना था। बाद में, देश के उत्तर-पश्चिम तथा पूरब के उन क्षेत्रों का सीमांकन करने के लिए एक कमीशन बनाया जायेगा, जहां मुसलमानों का बहुमत है और उनके जनमत पर यह निश्चय किया जायेगा कि वे भारत में रहना चाहते हैं या नहीं?[1]

इस फार्मूले का सीधा सा अर्थ था कि पाकिस्तान की मांग को स्वीकार कर लिया गया है। इससे पहले, यूनियनिस्ट पार्टी के नेता फजल-ए-हुसैन और छोटूराम जिन्ना साहब को, पंजाब की राजनीति में प्रभावहीन कर चुके थे।[2] प्रमाण

---

1. मदन गोपाल, सर छोटूराम, पृ. 133
2. मदन गोपाल, सर छोटूराम, पृ. 94

इस बात के भी मिलते हैं कि जिन्ना देश का विभाजन नहीं चाहते थे। उनको विभाजन के लिए तैयार किया था, वायसराय माउन्ट बेटन ने। देश के राजनीतिक वातावरण की रिपोर्ट लेकर वायसराय 13 मई, 1947 को लन्दन पहुंचे। अपनी रिपोर्ट में, उन्होंने यह राय जाहिर की थी कि बंटवारे के अलावा और कोई उपाय नहीं है। इस रिपोर्ट को, लंदन की सरकार ने स्वीकार कर लिया। विभाजन की योजना लेकर, 2 जून, 1947 को माउण्ट बेटन ने, वायसराय लॉज में, सात लोगों की एक मीटिंग बुलाई, जिसमें आचार्य कृपलानी, जवाहरलाल नेहरु और सरदार वल्लभ भाई पटेल (कांग्रेस), मि. जिन्ना, लियाकत अली खां और सरदार अब्दुल रथ निश्तर (मुस्लिम लीग) और सरदार बलदेव सिंह (सिख) शामिल हुए। इनके सामने विभाजन का प्रस्ताव रखा गया और 14 अगस्त को पाकिस्तान और 15 अगस्त, 1947 को हिन्दुस्तान को आजादी देने का आश्वासन दिया गया। कांग्रेस के सदस्यों ने, अपना जवाब रात तक भेजने का आश्वासन दिया। मि. जिन्ना का उत्तर था कि हमारी कौंसिल की मीटिंग 9 जून को होगी, हम उसके बाद, अपना उत्तर देंगे। वायसराय ने, जिन्ना को शाम को फिर बुलाया और कहा, कल आप, मेरी बात का समर्थन करेंगे। मैं कहूंगा कि मि. जिन्ना ने अपनी मंजूरी दे दी है। आप इसको स्वीकार करेंगे। ये बातें, इसका प्रमाण देती हैं कि विभाजन की योजना अंग्रेजों की थी। इसको कांग्रेस के नेताओं ने पहले स्वीकार किया और गांधीजी को भी, अपनी बात से पीछे हटना पड़ा। अस्तु, इस देश में जाति-वादी विद्वेष को, फिर से पनपाने का दायित्व कांग्रेस के नेताओं पर है। जाति के आधार पर, चुनावों में उम्मीदवार खड़ा करने का कार्य, कांग्रेस तथा अन्य दलों ने प्रारम्भ किया था, लेकिन चौधरी साहब, इससे असहमत थे। वह आर्थिक स्थिति और साम्प्रदायिक-एकता की भावना को, उम्मीदवारी की कसौटी माना करते थे।

3

योरोपीय जातियां और जातीय संकीर्णता

जातिवादिता के नाम पर, अंग्रेज कौम, भारत में वह खेल तो नहीं खेल पाई, जो ब्रिटेन तथा स्पेन के लोगों ने पीरू में खेला था। सन् 1783 से 1793 तक, लिवरपूल के व्यापारी, अफ्रीका से तीन लाख आदमियों को पकड़कर ले गये थे और उनको गुलामों के रूप में, पशुओं की तरह, बेच दिया था।[1] सन् 1672 में इंग्लैण्ड में रायल-अफ्रीकन-कम्पनी नामक एक व्यापारी संघ को, इंग्लैण्ड के राजा ने, एक अधिकार-पत्र दिया था कि वह गुलामों का व्यापार कर सकती है।[2] यही काम स्पेन के लोगों ने भी किया था। मैक्सिको और पीरू के जिन शासकों ने स्पेनिश आक्रांताओं के साथ अपनी बेटियों के विवाह कर दिये, वे बच गये। अन्यथा कई स्थानों पर विजेताओं ने आदिवासियों के नगरों को लूटा, मंदिरों को उजाड़ दिया और कई स्थानों पर आदिवासियों को एकत्र करके हुकुम दिया कि या तो ईसाई बन जाओ, वरना सबको गोली मार दी जायेगी।[3] एक घटना है—सोलहवीं सदी के अंत में, पीरू के सरदार अताहु आलपा को उसके हजारों निहत्थे साथियों के साथ, पिजारो नामक स्पेनिश सेनापति ने एक जगह इकट्ठा कराया। एक पादरी बाईबिल लेकर उनकी ओर गया और बोला—'अपने देवताओं पर विश्वास करना छोड़ दो, ईसाई बन जाओ और स्पेन को अपना स्वामी मान लो।' इस पर अताहु आलपा ने बाईबिल फेंक दी। तब पादरी ने संकेत किया कि इनको मार दिया जाये और फिर हजारों आदिवासियों को गोली का निशाना बना दिया गया।[4] उत्तरी अमेरिका में जब अंग्रेज और फ्रांसिसी पहुंचे तो जाति और धर्म के नाम पर उन्होंने बड़े अत्याचार किये। शेरीडन नाम के

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा, भारत में अंग्रेजी राज्य और मार्क्सवाद, भाग-1, पृ. 32
2. वही, पृ. 33
3. वही, पृ. 33
4. वही, पृ. 30

सेनापति का कहना है कि 'मुर्दा इंडियन ही अच्छा इंडियन होता है।[1]' ये तथ्य गवाही देते हैं कि सभ्यता की दुहाई देने वाले यूरोपियनों ने अफ्रीका, मैक्सिको, पीरू और उत्तरी अमेरिका के आदिवासियों के साथ जाति तथा धर्म के नाम पर, कितने अन्याय और अत्याचार किये थे। ऐसे अत्याचार, ये लोग भारत में तो नहीं कर पाए, पर जाति के नाम पर, देश का विभाजन कर गए और दोनों जातियों को रक्त का स्नान भी करा गए।

1. डॉ. रामविलास शर्मा, भारत में अंग्रेजी राज्य और मार्क्सवाद, भाग-1, पृ. 30

4

भारत में जातीय अभिशाप

जाति और धर्म के नाम पर ऐसे अत्याचार भारत में भी हुए हैं। मौर्य राजा वृहद्रव्य को मार कर राजा बने ब्राह्मण मंत्री पुष्यमित्र ने बौद्धों का संहार इतनी ही क्रूरता से किया था, पुरोहितों ने जनमेजय से यज्ञ कराके नाग-जाति के लोगों को, यज्ञ-कुण्ड की आग में, इससे भी अधिक बेदर्दी के साथ जलाया था, सिंध के ब्राह्मण राजा दाहिर ने अपनी जनता-मेद तथा जाटों को जातीय वैमनस्य के कारण जानवरों की तरह रहने के लिए विवश किया था।[1] मुहम्मद-बिन-कासिम, महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी, तैमूर, नादिर और अब्दाली ने जाति और धर्म के नाम पर लाखों लोगों का कत्ल करवाया था, औरंगजेब ने भी ऐसा ही घृणास्पद काम किया था और यही नहीं, स्वयं उच्च वर्ण के हिन्दुओं ने, अपने ही करोड़ों भाइयों को, शूद्र कह कर पशुओं से भी अधिक घृणित जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किया था। भारत के, जातिवादी राजनीतिक नेताओं ने भी, इंसान के खून की होली, अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए, सन् 1947 में, देश का बंटवारा कराके खेली थी।

चौधरी चरण सिंह ने, अनेक बार इंसान की इस बरबादी पर आंसू बहाये थे, साथ ही, व्यावहारिक स्तर पर, जातिगत अन्तर को मिटाने के प्रयास भी किए थे।

---

1. डॉ. नत्थन सिंह, जाट इतिहास, (के. आर. कानूनगो की पुस्तक 'द जाट्स' का अनुवाद), पृ. 14

5

जातीयता के कतिपय अन्य ऐतिहासिक संदर्भ

इतिहास इस तथ्य की साक्षी देता है कि सन् 912 से 946 तक दक्षिण राष्ट्र कूटों ने मथुरा क्षेत्र से गुर्जर प्रतिहार वंश का शासन मिटा दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन का अभाव पैदा हो गया था और स्थान-स्थान पर अलग गोत्रों अथवा जातियों के राज्य स्थापित हो गये थे। उदाहरण के लिए बुन्देलखण्ड में चंदेल, महाकौशल में कुलचुरि, मालवा में परमार, सौराष्ट्र में चालुक्य, राजस्थान में चाहवान (चौहान), मेवाड़ में गुहिल (गहलौत), हरियाणा में तोमर आदि गोत्रीय राजाओं के राज्य बन गये थे। अपने-अपने क्षेत्रों में लूटमार करने वाले लोगों के हाथों में, जब राजकीय ताकत आ गई, तब उनको न तो देश के गौरव की रक्षा का ज्ञान रहा, न संयम एवं विवेक के साथ शासन करने की इच्छा पैदा हुई और न बाहरी शक्तियों से आत्मरक्षा करने की भावना जगी। इसके ठीक विपरीत, वे छोटे-छोटे राजा, मामूली-सी बात पर आपस में लड़ते रहे। एक कहावत है कि एक घर में रहने वाली सास-बहू, ननद-देवरानी तथा जिठानी आपस में लड़ती हैं, लेकिन जब घर में आग लगती है, तब लड़ना छोड़कर, आग बुझाने के लिए, सब मिलकर दौड़ पड़ती हैं, लेकिन भारत के इन राजाओं में इतनी बुद्धि भी न थी कि बाहरी आक्रमणकारी के सामने, सब एक होकर, खड़े हो जाते तो उनको, एक-एक करके, पिटना तथा गुलाम न बनना पड़ता और देश गुलामी की दिशा में तेजी से न दौड़ता।

दाहिर की पराजय और सिंध के पतन के बाद भी स्थानीय राजाओं को अपने बचाव का ख्याल न आया। सन् 739 में सिंध से एक अरब सेना कच्छ, भिन्नमाल, चित्तौड़, उज्जैन को रौंदती हुई सूरत जिले के नवसारी नगर तक पहुंच गयी थी। हालांकि चालुक्यों ने उसको मार भगाया था।[1] पर अन्य कोई राजा

---

1. जयचंद विद्यालंकार, इतिहास प्रवेश, पृष्ठ 223

न तो उक्त सेना का सामना करने के लिए आगे बढ़ा, न चालुक्यों के साथ सहयोग करने के लिए और न भविष्य में होने वाले आक्रमणों से रक्षा करने के विचार के लिए आगे बढ़ा। ये लोग, झूठी शान और सत्ता के मद् में डूबे रहे और दूसरी ओर अरब भारत में पैर जमाने की योजना बनाते रहे। जातीय विद्वेष और ईर्ष्या ने भारतीय राजाओं को एक मंच पर न आने दिया।

दसवीं सदी में चेदि राज्य का उत्तरी भाग जेजाक मुक्ति या जुझौती कहलाने लगा था। उसमें चन्देलों का राज था। राजधानी महोबा थी, बाद में खजुराहो[1] बनी। चेदि और जुझौती के पश्चिम में अवन्ति या मालवा में परमार वंश का राज था, राजधानी धारा थी। इसके पश्चिम में गुजरात में मूलराज सोलंकी चालुक्य का राज था, अनहिल पट्टम (अनहिल बाड़ा) राजधानी थी।[2] इसी काल में, इन्द्रराज राठौड़ ने 916 में कन्नौज पर हमला किया, 972 में मालवा के स्वतंत्र राजसीयक (श्रीर्ष) ने राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यावेट पर धावा बोला श्री हर्ष का बेटा राजा मुंज तैलप वंश के साथ छह बार लड़ा और अंत में कैद हो गया। 994 ई. के लगभग मुंज का छोटा भाई सिंधुराज गद्दी पर बैठा। वह अपने पड़ौसी गुजरात के मूलराज सोलंकी के पुत्र चामुण्डराय से निरन्तर लड़ता रहा और अंत में मारा गया। सन् 1009 में, मुंज महाराष्ट्र के चालुक्यों के हाथों मारा गया और उसका भाई गुजरात के चालुक्यों के हाथों मारा गया।[3] चालुक्यों और परमारों का यह लम्बा संघर्ष अरबों तथा तुर्कों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। भारत के पश्चिमी भाग में चालुक्य (सोलंकी) और परमारों की खानदानी दुश्मनी अर्थात् दो-भारतीय जातियों की खानदानी लड़ाई ने दोनों की ताकत को कम किया और वे विदेशी आक्रान्ताओं को आकर्षित करने लगे।

गुप्त-साम्राज्य के पराभव के पश्चात् समस्त भारत छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया था। इनमें तीन मुख्य राज्य थे–1. कन्नौज का मौखरि वंश, 2. स्थानेश्वर का वर्धन वंश और 3. बल्लभीका मैत्रक वंश।[4] इस प्रकार से, शासकीय स्तर पर देश के तीन टुकड़े हो गये थे। फलतः उसकी केन्द्रीय शक्ति तीन भागों में बंट गई थी। इस स्थिति को, राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से गौरवशाली नहीं कहा जा सकता। सम्राट-हर्षवर्धन ने सन् (606-646) के मध्य देश को पुनः संगठित किया। उसने गौड़ देश के राजा शशांक, वल्लभी के राजा ध्रुवसेन (ध्रुवभट्ट),

1. जयचंद विद्यालंकार, इतिहास प्रवेश, पृष्ठ 233-234
2. वही, पृष्ठ 235
3. वही, पृष्ठ 236
4. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, भारत का प्राचीन इतिहास भाग-2, पृष्ठ 801

चालुक्य राजा पुलकेशी और सिंध के राजा के साथ कई बार युद्ध किये और एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। तात्पर्य यह है कि हर्षवर्धन ने देश की बिखरी ताकतों को एक किया और एक संगठित शक्ति की स्थापना करके वही काम किया जो कभी चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने किया था। ह्वेनसांग के अनुसार उसकी सेना में साठ हजार हाथी और एक लाख अश्वारोही सैनिक थे।[1] उसका शासन भी गुप्त-साम्राज्य की तरह था। अस्तु, यह कहना असंगत न होगा कि उसने जातिगत पृथकता के पनपते बीज को उखाड़ फेंकने में महान् योग दिया था। किन्तु समय परिवर्तनशील होता है और समय के साथ जीवन के मूल्य भी बदलते रहते हैं। यही कारण है कि हर्षवर्धन ने जिस एकता तथा शक्ति की स्थापना जर्जर भारत में की थी, वह उनके पश्चात् बिखरने लगी। फिर से कन्नौज, कश्मीर, बंगाल और राजस्थान में विभिन्न राज्यों का प्रभुत्व कायम हो गया। इसके साथ ही, देश में अराजकता की स्थिति पैदा हो गयी थी। इस काल के, एक शिलालेख के आधार पर, अराजकता के इस युग को 'मत्सुय-न्याय' की संज्ञा दी गयी है।[2] तात्पर्य यह है कि बड़ा तथा शक्तिशाली छोटे तथा निर्बल को खा रहा था। जातीय विरोध का झण्डा बुलन्द हो रहा था।

अराजकता की इस स्थिति में अर्थात् विभिन्न जातियों के राजाओं की एक-दूसरे के साथ वैमनस्य, सहयोग एवं सम्पर्क के अभाव की स्थिति ने, विदेशियों को, भारत की ओर आने का निमंत्रण दिया। यही कारण है कि अरब आक्रान्ता मथुरा तथा अन्तर्वेदी तक घुस आये थे, पर जिस प्रकार गुप्त-साम्राज्य की जड़ें हूणों ने हिला दी थीं, मौर्य-साम्राज्य के अंतिम दुर्बल राजा वृहद्रथ को मार कर, उसका ब्राह्मण मंत्री पुष्यमित्र सम्राट बन बैठा था, ठीक उसी प्रकार अरबों के साम्राज्य के उत्तर में बसे तुर्कों ने, उसकी चूलें हिला दीं थीं। वैभवशाली अरब-साम्राज्य के भग्नावशेषों पर तुर्कों के राज्य स्थापित हुए। इनमें से एक राज्य गजनी का था। उसका संस्थापक अल्पतगीन था।[3] वह कट्टर तुर्क था। उसने, गजनी में शक्ति का संचय करके बाद में अफगानिस्तान पर आक्रमण किया और वहां के हिन्दू-बौद्धों को इस्लाम अंगीकार करने के लिए विवश किया।[4] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आठवीं सदी से लेकर दसवीं सदी तक का समय, विभिन्न जातियों के संघर्ष का काल है। अरबों ने भारत में आकर ब्राह्मणों, मेदों, जाटों

---

1. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, भारत का प्राचीन इतिहास भाग-2, पृष्ठ 815
2. वही, पृष्ठ 830
3. वही, पृष्ठ 847
4. वही, पृष्ठ 847

तथा अन्य जातियों को तबाह किया और तुर्कों ने अरबों को ठिकाने लगाया। इस संघर्ष में कुछ जातियां उठीं, कुछ गिरीं, पर इंसानियत का संहार हुआ। मानवता विकलांग हो गई।

अल्पतगीन की सन् 975 में मृत्यु हो गयी। उसके बाद सुबुक्तदीन राजा हुआ। उसने हिन्दूकुश पार करके भारत पर आक्रमण किया। उत्तर-पश्चिम भारत का राजा जयपाल था। वह ब्राह्मणशाही वंश का था। सुबुक्तदीन ने उस पर आक्रमण कर दिया। जयपाल की याचना पर, कन्नौज का गुर्जर प्रतिहार राजा राजपाल, चौहान तथा चंदेल राजा भी उसकी सहायता के लिए आये, पर आन्तरिक एकता के कारण जीत सुबुक्तदीन की हुई और सिंध तक उसका राज्य स्थापित हो गया। इससे एक निष्कर्ष यह निकला कि शक्ति-सबल संगठन में होती है; जातीय विद्वेष से दुर्बल, परस्पर विश्वास रहित और संदिग्ध एवं आत्मीयता हीन व्यक्तियों के समूह में नहीं।

सुबुक्तदीन के बाद महमूद राजा बना। उसने, हजारों ऊंटों पर पानी लाद कर, सिंध के रेगिस्तान को पार किया, सौराष्ट्र पर हमला किया और सोमनाथ का मंदिर ध्वस्त किया। यह संहार इसलिए हुआ कि मालवा के परमार, सौराष्ट्र के चालुक्य, गुर्जर प्रतिहार और पालवंश के राजा मिलकर उसका सामना करने में विफल रहे। प्रत्येक राजा सोचता रहा कि आक्रान्ता जब उसकी ओर आंख उठाएगा, तो वह उसको देख लेगा। फलतः परस्पर बिखराव और जातीय वैमनस्य के कारण, भारत तुर्कों के अधीन हो गया। इस गुलामी से देश को मुक्ति तभी मिली, जब महाराष्ट्र में शिवाजी और आगरा-मथुरा-क्षेत्र में जाटों के झण्डे के नीचे सभी जातियां एक होकर खड़ी हो गयीं थीं। इस घटना से भी नतीजा यही निकलता है कि जातियों का परस्पर मिलन, एका, संगठन और सहयोग राष्ट्र की शक्ति होता है और इनका कलह, वैमनस्य एवं विरोध देश की कमजोरी। खेद, यह है कि मध्य युग में, देश के सामन्तों ने और आधुनिक युग में देश के राजनीतिक नेताओं ने, इतिहास के इस सत्य से कोई शिक्षा नहीं ली। वे यथावसर जातीयता का जहर वातावरण में घोलते रहे।

6

वैदिक युग और जातीयता की चरम सीमा

इतिहास का गंभीर और गहन अध्ययन करने वाले छात्र, चौधरी चरण सिंह जी, इस नतीजे पर पहुंचे थे कि भारत ने जातिवाद के अभिशाप से पीड़ित होना, केवल ईसा की पांचवीं या छठी सदी से ही प्रारम्भ नहीं किया था, वरन् ईसा पूर्व कई सदी ही नहीं, हजारों वर्ष पूर्व, वह भयंकर जातीय संकीर्णता के दृश्य देख चुका था। आश्चर्य की बात यह है कि हमारे प्राचीन इतिहास के फलक पर, जातीय संकीर्णता के क्षुद्र जातीय स्वार्थ और घिनौने मूल्यहीन दृश्य साधारण व्यक्तियों के आचरणों में नहीं, वरन् ब्रह्मज्ञानी कहलाने वाले तापसों एवं ऋषियों के कार्यों में देखे गये थे। भारत के प्राचीन इतिहास और मानवशास्त्र (एन्थ्रोलॉजी) के अध्ययन से, बड़ी सरलतापूर्वक, कोई भी तटस्थ अध्येता, इस निष्कर्ष पर पहुंच सकता है कि प्राचीन इतिहास का एक काल ऐसा भी था, जिसको मानवशास्त्री विशेषज्ञों ने, आदिम जनजातीय युग का नाम दिया है। इस युग में, कबीले का प्रत्येक व्यक्ति बराबर था। शनैःशनैः कबीलों का विस्तार हुआ, जनसंख्या बढ़ी और लोगों के काम बंट गये। श्रम के स्वरूप का यह विभाजन, आगे चलकर वर्णों के विधान का प्रमुख कारण बन गया। प्रारम्भ में, कुछ लोग ज्ञानार्जन के क्षेत्र में कार्य करने लगे। वे विद्वान्, तत्त्वदर्शी, विचारक और नियमों के विधायक बनकर उभरे। इनको ब्रह्म (सृष्टि के रचनाकार) के स्वरूप-संधान में लीन रहने के कारण संभवतः ब्राह्मण मान लिया गया। शारीरिक दृष्टि से, अन्यों की अपेक्षा अधिक सबल लोगों को रक्षा का भार सौंपा गया और वे छत्र सिर पर रखकर चलने के कारण, क्षत्रिय बन कर उभरे। जो लोग जीविकोपार्जन के लिए वस्तु जुटाने का काम करते थे, वे वैश्य कहलाये और जिन लोगों का काम कबीलों की सफाई तथा सेवा करना था, वे शूद्र मान लिये गये। कुछ समय तक, यह वर्गीकरण केवल श्रम का विभाजन था, वर्णों में परस्पर एकता, समता, रीति-रिवाजमूलक सामंजस्य वर्तमान था। सब लोग, पूजा तथा सामाजिक कार्यों के समय तक एक

साथ बैठते, खाते-पीते और मनोरंजन करते थे। लेकिन कालान्तर में, मानव की उदात्त प्रवृत्तियों, सहिष्णु व्यवहार और उदार स्वभाव में संकीर्णता, अनुदारता तथा कटुता का समावेश होता गया और कबीलाई एकता खण्ड-खण्ड होती चली गई। इस बिखराव और विखंडन का एक विशेष कारण था–आर्य और आदिम जाति के संयोग से उत्पन्न ब्राह्मण पुरोहित नामक एक नई जाति का उदय, जिसके प्रमुख प्रतिनिधि थे, वशिष्ठ। डॉ. दामोदर धर्मानन्द कौसाम्बी की मान्यता है–'आर्यों और आदिवासियों के इस नये संयोग से विशेषज्ञों का एक ऐसा वर्ग–ब्राह्मण वर्ग सामने आया जो बाद में समस्त आर्य कर्म-काण्ड के एकाधिकार का दावेदार बन गया।'[1]

यह इसलिए हुआ कि पुरोहित का धंधा, सबसे अधिक आसान माना गया। मंत्रदृष्टा और ऋग्वेद के प्रथम गायत्री मंत्र के रचयिता विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि मानने से इंकार कर दिया गया, यद्यपि तपस्या, ज्ञान और मंत्र-रचना में वह किसी से पीछे न थे। यहां से, एकाधिकार की प्रवृत्ति का संकेत मिलता है। इस संकीर्ण दृष्टि का परिणाम ही वशिष्ठ तथा विश्वामित्र के संघर्ष की पृष्ठभूमि है।

कालान्तर में, यह प्रवृत्ति अधिक संकीर्ण होती चली गयी। सूर्यकान्त बाली के अनुसार लगभग छह हजार वर्ष पूर्व अगस्त्य का एक उदाहरण इसका ज्वलंत प्रमाण है।[2] गैर-ब्राह्मण होने के कारण मंत्रकार अगस्त्य को सप्तर्षि की परंपरा में स्थान नहीं दिया गया। यद्यपि उस महान् ऋषि को देवताओं की रक्षा के लिए 'कालेयों' नामक असुरों के संहार की सम्भावना सुनिश्चित करने की दृष्टि से, समुद्र-पान करने का अति कठिन कार्य करते हुए देखा गया है। सवर्ण न होने के कारण, बाल्मीकि को भी वह प्रतिष्ठा नहीं मिली, जो एक ब्राह्मण ऋषि को, सहज मिल जाया करती थी। शूद्र शम्बूक को, तपस्या करने से रोकने का उपाय यह खोजा गया कि शूद्र की तपस्या के कारण, पिता के सामने, ब्राह्मण के पुत्र का निधन हो गया है। अतः राजा राम द्वारा उसका वध करा दिया गया।[3] जातीय विद्वेष-भावना का यह बड़ा सबल उदाहरण है। इतिहास के फलक पर छात्र चरण सिंह को, इसी प्रकार के जातीय संकीर्णता के कुछ उदाहरण और भी मिले। इन पर उनकी आत्मा को बड़ा क्लेश हुआ। महिदास ऐतरेव की एक कथा उनको पढ़ने के लिए मिली। इस कथा से ज्ञात हुआ कि एलूष का पुत्र

---

1. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृ. 105
2. सूर्यकांत बाली, नवभारत टाइम्स, 11 सितम्बर 1994 (रविवारीय परिशिष्ठ), पृ. 3
3. शम्बूक वध के लिए, पद्मपुराण (सृष्टि खण्ड तथा उत्तर खण्ड), महाभारत (शांतिपर्व), रघुवंश (सर्ग 15), उत्तर रामचरित(द्वितीय अंक) एवं आनंद रामायण आदि लेख

कबष एलूष सरस्वती नदी के तट पर होने वाले यज्ञ में शामिल होने के लिए वहां पहुंचा, पर याज्ञिक-ब्राह्मणों ने उसको यज्ञ में शामिल इसलिए नहीं होने दिया कि वह गैर-ब्राह्मण जाति में पैदा हुआ था। यही नहीं, याज्ञिक ब्राह्मण समुदाय, कवष एलूष को खींचकर उस स्थान पर फेंक आया जो धन्व अर्थात् जलरहित कहलाता था। कवष ऐलूष ने वहां घोर तप किया और तपस्या के बल पर, सरस्वती नदी की धार को, अपनी ओर मोड़ दिया। 'कवष ऐलूष' की इस साधना को देखकर याज्ञिक ब्राह्मण साग्रह उसको यज्ञ में शामिल करने लगे।

इस घटना से बालक चरण सिंह ने छात्र जीवन में ही यह निष्कर्ष निकाल लिया कि पुरोहित वर्ग के लिए धर्म और सिद्धान्तों का कोई अर्थ नहीं था, उनके सामने केवल प्रश्न अपनी आर्थिक समृद्धि और अपने लिए समाज में पूजनीय स्थान बनाये रखने का था। अपनी हार की सम्भावना से भयभीत होकर वे पूर्वघोषित सिद्धांत को छोड़ दिया करते थे और अपने विरोधियों का महत्त्व स्वीकार कर लिया करते थे। तात्पर्य यह कि पुरोहित और धर्म के सिद्धांतों की रचना करने वाले याज्ञिक ब्राह्मणों के दो चेहरे थे—एक वह जिनसे वे सिद्धांतों की रचना करते थे और दूसरा वह, जिससे अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए वे अपने घोषित सिद्धांतों के विरुद्ध आचरण करते थे। प्रत्येक स्थिति में, अपने हितों की रक्षा और महत्त्व की स्थापना उनका अभिप्रेत था। उनको जब कभी मौका मिलता तो युद्ध में अपने विरोधियों को मिटाते और जब अपनी स्थिति कमजोर देखते, तो विरोधी को मान-सम्मान देकर, अपने में मिला लेते और विपत्ति काल बीतने पर, उसकी उपेक्षा करके नगण्य बना देते। कवष ऐलूष के आख्यान से यही निष्कर्ष निकलता है। यह आख्यान यह भी संकेत करता है कि जातीय भेद-भाव करने का प्रथम प्रयास पुरोहिती कर्म में संलग्न ब्राह्मणों ने किया था। यदि कवष ऐलूष के तप और ज्ञान की अधिकता को देखकर याज्ञिक पुरोहितों ने उसको आदर दिया तो विश्वामित्र और जनक को क्यों नहीं? जबकि ये दोनों ज्ञान और तप-साधना में किसी ब्राह्मण ऋषि से कम न थे।

इस वर्ग ने, एक अन्य ढोंग, अंधविश्वास और अवैज्ञानिक रीति को जन्म दिया। डॉ. डी. डी. कौसाम्बी का कथन है कि जाति बदलने का एक तरीका इस वर्ग ने यह निकाला कि निम्न जाति के व्यक्ति को, स्वर्णपात्र में बिठाकर, उसको उच्च जाति का बना देते थे और स्वर्ण पात्र उनको दान में मिल जाता था। इस प्रकार आर्थिक लाभ और अपने महत्त्व के प्रतिपादन का यह तरीका भी निकाला गया, (देखें प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृष्ठ 215) जो हिरण्यगर्भ अनुष्ठान के नाम से जाना गया था। शिवाजी को क्षत्रिय घोषित करने

की ऐतिहासिक घटना से भी यही ज्ञात होता है। शिवाजी ने, समस्त भारत के विद्वान पंडितों को बुलाकर, उनको दान-दक्षिणा दी और उन्होंने उनको श्रेष्ठ क्षत्रिय घोषित कर दिया।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने अछूत, पिछड़ी और असभ्य मानी जानी वाली जातियों को मान दिया, उनको गले लगाया, जटायु को पिता का सम्मान दिया, शबरी के झूठे बेर खाये और बानर हनुमान को उत्कृष्ट भक्त का स्थान दिया, किन्तु उन्हीं राम को, मंदिर में बिठाकर पूजने वाले और पूजा की अपार सम्पत्ति का भोग करने वाले पुरोहित समाज ने, इस प्रक्रिया को रोकने के लिए सिद्धांत की रचना की थी कि गैर-सवर्ण शम्बूक द्वारा तपस्या करने के कारण ही, पिता के जीवित रहते, ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु हो गई है। अतः शम्बूक वध करा दिया गया और वह वध किया स्वयं राजा राम ने, ब्राह्मण-समाज के दबाव के कारण। इसमें वशिष्ठ की अवश्य महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी। यही नहीं, इसी पुरोहित वर्ग ने, बाल्मीकि आश्रम में पल रहे लव और कुश को, अयोध्या के सिंहासन से दूर रखने के लिए भी, एक योजना की थी कि राम का दूसरा विवाह कर दिया जाए, लेकिन 'श्रुतिकीर्ति' और माण्डवी के हस्तक्षेप से योजना तो समाप्त हो गयी, पर सीता की स्वर्णिम मूर्ति दान-दक्षिणा में पाने में, वह वर्ग अवश्य समर्थ-सफल हो गया।

सजग छात्र चौधरी चरण सिंह को यह समझने में देर न लगी कि ब्राह्मण समाज का एक छोटा-सा अंग, जो मुश्किल से दाल में नमक के बराबर होगा, अपनी स्वार्थपूर्ण नीतियों एवं कार्यवाहियों से समूचे ब्राह्मण-समाज को कलंकित कर रहा था। अपने आर्थिक हितों की रक्षा तथा सामाजिक श्रेष्ठता बनाये रखने के षड्यंत्र में संलग्न यह वर्ग समूचे समाज और राष्ट्र को कमजोर कर रहा था। यथार्थ में, पुरोहितों का यह वर्ग विलासी और आलसी बन गया था। ऐसे लोगों को लक्षित करके ही ऋग्वेद संहिता में कहा गया है—'मोषु वह नवतन्दयुभर्व 892.30' अर्थात् हे इन्द्र! तुम एक याज्ञिक ब्राह्मण की तरह आलसी न होओ। इसका सीधा-सा अर्थ है कि ब्राह्मण समाज का एक छोटा-सा पुरोहित वर्ग आलसी हो गया था। बिना श्रम किये, केवल दस-बीस उल्टे-सीधे मंत्र बोलकर, प्रचुर दक्षिणा पाने का अभ्यस्त बनकर समाज में आडम्बर तथा अंधविश्वासों को तो जन्म दे ही रहा था, साथ ही चरित्र के दोगलेपन को भी प्रोत्साहित कर रहा था। उसने, अपने प्रभाव को बनाये रखने के लिए जनता को मंत्र बल पर आस्था रखना सिखाया, मंत्र की शक्ति को अपराजेय, अमोघ और अचूक बताया, समाज में अंध-विश्वास तथा रूढ़ियों का जाल बिछाया, राजा तथा प्रजा को सब प्रकार

की परेशानियों तथा रोगों को मंत्र-बल से दूर करने का विश्वास दिलाया, अपने शाप से सर्वस्व भस्म कर देने और वरदान से सब कुछ मिल जाने का भरोसा दिया और इस प्रकार निकम्मे, दुर्बल तथा निष्प्राण समाज को विकसित किया। राजा तथा प्रजा के लोग लौकिक विपत्ति को ब्राह्मण-पुरोहित, ओझा, पुजारी आदि के मंत्र-बल से भगाने पर विश्वास करने लगे और बाहुबल, शस्त्र-शक्ति और दृढ़ता का त्याग करके आलसी और विलासी बन गये। अधिकाधिक सम्पत्ति अर्जित करने के उद्‌देश्य से, इस वर्ग ने, जाति बदल देने का भी ढोंग पैदा किया। इन्होंने 'हिरण्य गर्भ' नामक एक अनुष्ठान की रचना की। इस अनुष्ठान में छोटी जाति का कोई राजा एक सोने के बड़े पात्र में सिकुड़ कर ऐसे बैठ जाता, जैसे माता के गर्भ में भ्रूण पड़ा होता है। फिर पुरोहित मंत्र बोलता है और बाद में, सोने के पात्र से व्यक्ति बाहर निकलता। यह उसका पुनर्जन्म माना जाता। उसको क्षत्रिय या ब्राह्मण मान लिया जाता। डॉ. कौसाम्बी ने एक घटना का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार 'मध्य-युग के कुछ ऐसे 'नवजात' राजाओं ने एक साथ ब्राह्मण व क्षत्रिय दोनों वर्णों का दावा किया है, जैसे कि सातवाहन गौतमी पुत्र ने।[1]' पात्र से बाहर निकलने के बाद, सोने का पात्र, पुरोहित को दान कर दिया जाता था। यह घटना संकेत देती है कि पुरोहित का चोला पहने ब्राह्मण ने समाज में कितना बड़ा ढोंग तथा अंधविश्वास पैदा कर दिया था। इस सबका उद्‌देश्य दान-दक्षिणा द्वारा अपार सम्पत्ति एकत्र करना था।

अंध-विश्वासों में आस्था, धार्मिक आडम्बरों में संलग्नता और मंत्र एवं आशीर्वाद में विश्वास के साथ-साथ परस्पर कलह तथा संघर्ष का परिणाम हुआ आत्मबल एवं सैनिक शक्ति का ह्रास और इसका परिणाम हुआ विदेशी आक्रमण, संहार और हार। डॉ. कौसाम्बी के ये शब्द हमारी बात का समर्थन करते हैं—'जाति-भेद और ब्राह्मणों की धूर्तता ने देश को अंध-विश्वासों के दलदल में फंसाये रखा और इस प्रकार विदेशी आक्रमणों के सामने देश असहाय बन गया।[2]' इतिहास के छात्र चरण सिंह को मंत्र-बलों पर आस्थावान याज्ञिक ब्राह्मण का यह कार्य, ऋग्वेद की उस भावना के विपरीत प्रतीत हुआ, जिसमें कहा गया है—'स गच्छध्वं वद्‌ध्वे स वो मनांसि जानताम। देवा भागं यथा पूर्वे सजानाना उपासते' (10/191/12) अर्थात् हे मनुष्यो! जैसे सनातन से विद्यमान दिव्य शक्तियों से सम्पन्न सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोधभाव से अपना-अपना काम करते हैं, ऐसे ही तुम भी समष्टि भावना से प्रेरित होकर एक साथ कार्य में प्रवृत्त हो जाओ।

1. डॉ. दामोदर धर्मानंद कौसाम्बी, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृ. 215
2. वही, पृ. 66-67

एक मत से रहो और परस्पर सद्भाव से आचरण करो। ऋग्वेद ही नहीं, आपको यजुर्वेद के एक मंत्र में भी एकता, परस्पर प्रीति और सद्भावना का भाव व्यक्त होता हुआ प्रतीत हुआ था। मंत्र है–'सहृदयं सामंजस्य सविद्वेषं कृणोमिव'–अन्यो अन्यमार्ग ह्यृत वत्सं जातभिवाध्न्वाः' (3/30/10) अर्थात् हे मनुष्यो! तुम्हारे पारिवारिक जीवन में परस्पर प्रेम, ऐक्य और सद्भावना होनी चाहिए, द्वेष की भावना नहीं। तुम एक-दूसरे से, उसी प्रकार व्यवहार करो, जिस प्रकार गाय अपने बछड़े से करती है। छात्र चरण सिंह को वेदों का मंत्रदृष्टा ब्राह्मण और ऋषि, ऋषि समाज की धार्मिक एवं सामाजिक महानता की ऊंची चोटी पर बैठा अवगत हुआ, जहां से वह प्राणिमात्र की एकता तथा परस्पर प्रीति का उपदेश दे रहा है और याज्ञिक ब्राह्मण पुरोहित, ब्राह्मण और ऋषि की महानता पर आघात करने वाला संकीर्ण हृदय और अर्थ तथा सत्तालोलुप नारकीय जीव अवगत हुआ। आपको ऋग्वेद संहिता के एक सूत्र से ज्ञात हुआ–'जो अकेला खाता है, वह केवल पापमय होता है' (केवलादि भवति केवला दी–10/117/6) इस सूत्र के अर्थ को समझ कर, आपको विश्वास हो गया कि याज्ञिक ब्राह्मण अकेला खाने वाला पापमय प्राणी था और वेदों का सृजेता ऋषि लोक-समर्थक एवं लोक-कल्याण की भावना से प्राणिमात्र को उद्वेलित करने वाला उदात्त मानव था। अतः वह ब्राह्मणत्व की गरिमा से मंडित था। अस्तु, श्रद्धा एवं पूजा का पात्र था और आज भी है। वही सच्चे धर्म का संस्थापक तथा उद्घोषक है। इसके विपरीत, याज्ञिक ब्राह्मणों का वर्ग न धर्म का संस्थापक है, न धर्म-पथ का पथिक है और न इंसानों के बीच इंसानी रास्ता कायम करने वाला युग-दृष्टा है। फलतः लोकहित-विरोधी कर्मकाण्डी याज्ञिक ब्राह्मण की पाशव मनोवृत्ति के प्रति, आपके मन में, एक प्रकार की, विरक्ति पैदा हो गयी। कालान्तर में, उनके अनेक कार्यों में इस विरक्ति के प्रमाण मिलते हैं। उचित संदर्भ के अवसर पर, उनके उदाहरण पढ़ने को मिलेंगे। कर्मकाण्डी याज्ञिक ब्राह्मण वर्ग ही नहीं, वरन् उसको मान-सम्मान देने वाले वर्ग के प्रति भी उनके मन में विराग पैदा हुआ। ऐसे लोग, उनको भारत देश और उसकी महान् संस्कृति के विरोधी प्रतीत हुए।

याज्ञिक ब्राह्मण की संकीर्ण मनोवृत्ति के प्रति विरोध और अलगाव का भाव पैदा करने में ऐतरेव ब्राह्मण के कुछ सूत्रों ने भी योग दिया। इन सूत्रों में कहा गया है कि आलसी याज्ञिक अपने यजमानों को ठगने से भी न चूकते थे।.इसका परिणाम यह हुआ कि उनके प्रति समाज में विरोध तथा विराग पैदा होने लगा। अपनी गिरती प्रतिष्ठा को बचाये रखने के लिए इस वर्ग ने एक ओर तो विरोधियों को समाप्त करने के लिए सामंतों तथा धनिक वर्ग का आश्रय लिया। उनकी

खुशामदों में गीत गाये, उनकी झूठी शान तथा वीरता के राग अलापे, उनको पृथ्वी पर परमात्मा का प्रतिनिधि बताया, धर्म के नाम पर उनसे यज्ञ कराये, उनमें पशुबलि के अलावा नर-बलि तक देने की परम्परा चलाई और दूसरी ओर धार्मिक साहित्य के नाम पर प्रचार प्रारम्भ किया। मनु और व्यास के नामों से ऐसे साहित्य की रचना की, जिसने समूचे समाज को ऊंची तथा नीची, स्पर्श तथा अस्पर्श्य जातियों में बांट दिया और विभाजन को जटिल बनाने की योजना की गयी ताकि ये लोग न कभी एक हों और न पुरोहित वर्ग की श्रेष्ठता को चुनौती दे सकें। ब्राह्मण पुरोहित ने, अपनी श्रेष्ठता की स्थापना के लिए ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में एक श्लोक खोज निकाला। वह इस प्रकार है–

ब्राह्मणो अस्य मुखमासीत, बाहु राजन्यकृतः।
उरुतदस्य यद् वैश्यं, पदभ्यां शूद्रो जायत ॥

इस श्लोक के आधार पर ब्राह्मण को समाज-पुरुष का मुख माना गया। क्षत्रिय को बाहु कहा गया, वैश्य को उदर बताया गया और शूद्रों को पैर कहा गया। इसका सीधा अर्थ था कि ब्राह्मण समाज के विवेक और बुद्धि का प्रतीक था, क्षत्रिय उसकी रक्षा करने वाला था, वैश्य समाज के पेट भरने का साधन जुटाने वाला था और शूद्र उसको (समाज को) गतिशील बनाने वाला था। लेकिन आलसी, स्वार्थी, यश तथा धनलोलुप पुरोहित वर्ग ने, इस अलंकारपूर्ण श्लोक का अर्थ ही बदल दिया। अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए इसका अर्थ किया गया कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिण वर्ग बाहुओं से, वैश्य उदर से और शूद्र पैरों से। अतः समस्त वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है और अन्य वर्ण उससे हीन हैं। बात यदि श्रेष्ठता और हीनता तक ही सीमित रहती, तो हिन्दू-समाज टुकड़े-टुकड़े होकर कमजोर न पड़ता। लेकिन ब्राह्मण वर्ण ने, विशेषतः अशुद्ध मंत्र बोलकर, बिना मेहनत करके खाने वाले याज्ञिक पुरोहित समाज ने, मनु के नाम पर ऐसे श्लोक रच डाले, जिनसे उनके आर्थिक तथा सामाजिक स्वार्थ सिद्ध होते रहें और उनकी श्रेष्ठता भी बनी रहे। इन श्लोकों को नाम दिया गया 'मनुस्मृति' और इसको धर्म की श्रेष्ठ पुस्तक कहा गया और फिर धर्म की आढ़ में दूसरे वर्णों का शोषण प्रारम्भ हुआ। 'मनुस्मृति' के एक श्लोक में कहा गया है–

शूद्रतु कारयेददास्यं क्रीतमक्रीतमेवदा।
दास्यायैव हि स्पृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभूवा ॥

(मनुस्मृति 8/413)

अर्थात् शूद्र खरीदा हुआ हो अथवा नहीं, उससे दास कर्म कराया जाए,

क्योंकि विधाता ने उसको ब्राह्मण का दास कर्म करने के लिए ही बनाया है। 'मनुस्मृति' का यह सिद्धांत यजुर्वेद 3/30/1 में निहित आर्यों की इस मान्यता के विपरीत है–'सहृदयं सामंजस्य सविद्वेषं कृणोमिव–अन्यो अन्य मार्ग हृदयवत्सं जातमिवा धन्वां' अर्थात् हे मनुष्यो! तुम्हारे पारिवारिक जीवन में परस्पर प्रेम, ऐक्य और सद्भावना होनी चाहिए, द्वेष की भावना नहीं। तुम एक दूसरे से उसी तरह व्यवहार करो, जिस प्रकार गाय अपने बछड़े से करती है। पुरोहित समाज ने मनु के नाम पर गढ़े उक्त श्लोक में, अपने ही एक वर्ग की दासता को, स्थायी बनाने के लिए जो बात कही है, वह ऋग्वेद की मान्यता के खिलाफ है। वह आर्यों की गौरवशाली परम्परा की विरोधी है, आर्य-संस्कृति पर लांछन लगाने वाली है और एक जाति विशेष की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने का बौद्धिक षड्यंत्र है। यही नहीं, अपना प्रभुत्व बनाये रखने की योजना के अन्तर्गत यह भी कहा–

न स्वामिना विस्तृष्टोअपि शूद्रो दास्या द्विमुच्यते।
निसर्गजहिततस्य कस्तमातदषोहति ॥

(मनु. 8/414)

तात्पर्य यह है कि स्वामी द्वारा दास कर्म से शूद्र को छुटकारा दे देने पर भी उसको छुटकारा नहीं मिलता, कारण है कि उसकी दासता स्वाभाविक है, उससे उसको कोई मुक्त नहीं कर सकता। यही नहीं, पुरोहित समाज ने, बिना पगार दिये दास-कर्म कराने के लिए, एक बात और भी कही–

न शूद्राय मति दद्यात नोच्छिनं हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेदग्मं न चास्य व्रतमादिशेत्॥

(मनुस्मृति 4/91)

अर्थात् शूद्र को बुद्धि नहीं देनी चाहिए, उसको धर्म का उपदेश भी नहीं दिया जाना चाहिए और न किसी प्रकार के व्रत का उपदेश करना चाहिए और जो व्यक्ति ऐसा करता है, वह शूद्र के साथ ही दसंवृत नामक नरक में डूब जाता है। पुरोहित वर्ग ने, आर्यों के, अपने एक अंग के साथ, इतना बड़ा अन्याय किया है कि शायद ही दुनिया के किसी देश में, किसी धर्म के मानने वालों ने किया हो। यह वर्ग, एक कदम और आगे बढ़ा। उसने कहा–'यदि शूद्र के कानों में वेद मंत्रों की ध्वनि पड़ जाये तो उनमें शीशा भर देना चाहिए, यदि उसकी जिह्वा से वेद-मंत्र का उच्चारण हो जाए, तो उसकी जिह्वा कटवा देना चाहिए और यदि उसके हाथ से वेदों का स्पर्श हो जाए तो हाथों को कटवा देना चाहिए–

अब हास्यवेद मुप थृण्वतस्य पुगतम्यं स्त्रोत प्रतिपुराण,
मुदा हरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरं भेद॥
(गौतम धर्म-सूत्र 2.5.4)

गौतम धर्म-सूत्र का यह श्लोक, अपने ही समाज के एक अंग विशेष के लिए, किस सीमा तक घृणा, अपमान, हीनता और अन्याय का प्रचार करता है, यह विचारणीय प्रश्न है और साथ ही त्याज्य भी। स्पष्ट है कि इस ब्राह्मण-वर्ग ने, अपनी श्रेष्ठता का निरंतर प्रतिपादन किया है। इस काम के लिए सहारा 'मनुस्मृति' का ही लिया गया। उसने कहा–

एतदेश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः
स्व-स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः

अर्थात् इस देश के अग्रजन्मा ब्राह्मण विश्वगुरु हैं। संसार के सभी देशों के व्यक्तियों ने उन्हीं से अपने-अपने आचारों के अनुरूप शिक्षा ग्रहण की थी। इतना बड़ा झूठ शायद ही दुनिया की किसी जाति ने बोला हो। यह वर्ग, यह भी भूल गया कि इस्लाम और ईसाई दोनों ही उसके विरोधी हैं और उनके अनुयायियों की संख्या भी इनसे अधिक है। स्वयं भारत में भी बौद्ध तथा जैन उनकी गर्वोक्तिपूर्ण उक्त मान्यता को चुनौती देते रहे हैं। लेकिन प्रचार के साधन उनके पास थे और अपने जातीय स्वार्थों की रक्षा के लिए, उनका प्रयोग आंख बंद करके ये कर रहे थे। इसी पुरोहिती मनोवृत्ति का प्रभाव गोस्वामी तुलसीदास पर दिखाई पड़ता है, लेकिन यह पंक्ति प्रक्षिप्त प्रतीत होती है। सांस्कृतिक और धार्मिक समन्वय का पक्षधर कवि ऐसा न कहता। पर रामचरित मानस में, यह पंक्ति मिलती है–

'पूजिये विप्र ज्ञान गुन हीना, शूद्र न पूजिये चतुर प्रवीना।'

मूर्खता का इतना बड़ा सम्मान और पांडित्य का इतना अनादर, अपने जातीय स्वार्थों की रक्षा के लिए, ब्राह्मणों के पुरोहिती समाज ने किया। हालांकि एक भक्त कवि की मान्यता है–'जाति-पांति पूछै नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।' यथार्थ में धर्म यही है, परमात्मा के यहां जाति का कोई विचार नहीं होता। जो उसको भजता है, वही उसको प्यारा लगता है, वह चाहे ब्राह्मण हो अथवा शूद्र। लेकिन खुद को दुनिया का गुरु मानने वाले, ज्ञान के अपने झूठे दम्भ पर, बिना मेहनत करके खाने के लिए, धर्म की मनगढंत परिभाषा करने वाले इस पुरोहित-समाज को धर्म से कोई मतलब न था। उसका एक मात्र उद्देश्य दक्षिणा लेना और सेवा कराना था। सम्राटों से स्वर्णजड़ित सींगों वाली हजारों

गायें दान में लेना, यज्ञ के समय मनोनुकूल धन-दौलत तथा गाय आदि दक्षिणा में लेना, सम्राटों की सैनिक-शक्ति के द्वारा, अपने विरोधियों को साफ कराना और ऐसा न करने वाले अथवा उनकी सामाजिक रुढ़ियों तथा संकीर्ण धार्मिक मान्यताओं के साथ असहमत होने वाले राजा को पापी, दैत्य, असुर, अधर्मी आदि कहना पुरोहित वर्ग का सिद्धांत था। वह यह मान चुका था कि धर्म को केवल वही जानता है, वह जो कहता है और करता है, वही धर्म है। इसके अतिरिक्त सब कुछ पाप है, अधर्म है। 'मनुस्मृति' के समान ही 'गौतम-धर्म-सूत्र' में भी अपनी वर्ण श्रेष्ठता का प्रतिपादन और अन्यों के साथ अन्याय का विधान इस प्रकार मिलता है। मनु के अनुसार यदि शूद्र स्त्री के साथ कोई द्विज वर्ण का व्यक्ति संभोग करे तो उसको देश निकाला दे दिया जाना चाहिए और यदि कोई शूद्र किसी द्विज स्त्री के साथ सहवास करता है, तो वह प्राण-दण्ड का भागी होता है (मनुस्मृति 2, 10, 17)। 'गौतम धर्म सूत्र' इससे आगे बढ़कर कहता है कि उसकी समस्त सम्पत्ति का अधिग्रहण कर लिया जाए और स्त्री का कोई अभिभावक हो, तो वह शूद्र की इन्द्रिय काटकर उसको प्राणदण्ड दे सकता है (12, 2-3)। हिन्दू-धर्म में जितना भेदभाव मिलता है, उतना दुनिया के किसी दूसरे धर्म में नहीं मिलता। कर्म एक, लेकिन उसके करने वाले को दण्ड अलग-अलग, कितना बड़ा अन्याय। हिन्दू-धर्म के पराभव और भारत की दासता में, ब्राह्मण पुरोहित के इन सिद्धांतों का बड़ा योग है।

इस तरह के भेदभावपूर्ण सिद्धांतों का प्रतिपादन न केवल 'मनुस्मृति' तथा 'गौतम धर्म-सूत्र' में ही मिलता है, वरन् 'विष्णु स्मृति', 'आपस्तम्ब', 'बृहस्पति', 'कौटिल्य' और 'महाभारत' भी इस प्रकार की नीति से अछूते नहीं हैं। 'विष्णु-स्मृति की मान्यता है कि निम्न वर्ग का व्यक्ति, उच्च वर्ण के व्यक्ति को, अपने जिस अंग से स्पर्श करे, उस पर आघात करे, राजा को चाहिए कि वह उसके उस अंग को कटवा दे। यदि वह बराबर के किसी आसन पर बैठ जाए तो वह उसके नितम्बों को दाग कर देश से निकाल दे। यदि वह थूक दे तो वह उसके दोनों होंठ कटवा दे। यदि वह (शूद्र) अपनी वायुविसर्जित कर दे तो उसके पिछले कटिभाग को कटवा दे। यदि गाली दे तो उसकी जिह्वा कटवा दे। यदि उच्च वर्ग के लोगों को सलाह दे तो उसके मुंह में गर्म तेल डलवा दे। और यदि वह किसी उच्च वर्ग के व्यक्ति को नाम लेकर पुकारे तो उसकी जीभ में दस अंगुल की कील ठोंक दे (5, 19-25)। 'विष्णु स्मृति' की उपर्युक्त मान्यता का समर्थन आचार्य बृहस्पति ने भी किया है। उनकी मान्यता है कि यदि कोई शूद्र धर्म का उपदेश देता है या ब्राह्मण का अपमान करता हो तो उसकी जीभ काट

दी जाए (12-12)। 'आपस्तम्ब स्मृति' का परामर्श भी इसी प्रकार है—क्षत्रिय के हत्यारे को एक हजार गायें, वैश्य के हत्यारे को सौ गायें तथा शूद्र के हत्यारे को सिर्फ दस गायें ही ब्राह्मण को दान करके प्रायश्चित करना होगा (1-9, 24, 1-3)। इसका तात्पर्य यह है कि मनु, विष्णु और बृहस्पति जैसे श्रेष्ठ विचारकों के नाम से, अपनी जातीय श्रेष्ठता बनाये रखने तथा बिना मेहनत किये सम्पति एकत्र कर लेने के उद्देश्य से, पुरोहित समाज ने ऐसे नियमों की रचना कर डाली, जिससे समाज में छोटे-बड़े तथा स्पृश्य और अस्पृश्य की दीवारें खड़ी हो गईं। कितना बड़ा अन्याय है कि अपराध एक और उसके करने वाले लोगों को दण्ड अलग-अलग। हत्या, हत्या होती है, वह चाहे क्षत्रिय की हो अथवा किसी अन्य की? उसके कर्ता को समान दण्ड मिलना चाहिए। लेकिन बृहस्पति के नाम से, पुरोहित समाज ने, व्यवस्था दी कि हत्या करो और ब्राह्मण को गायों का दान देकर हत्या के अपराध से मुक्त हो जाओ। सुनते हैं कि मुगल-सम्राट जहांगीर के राज्य में हत्या का दण्ड मृत्युदण्ड था। हत्या भले ही, स्वयं सम्राट ने की हो। इसी नियम के अन्तर्गत जहांगीर ने, अनजाने में भी धोबी की हत्या करने वाली स्वयं अपनी बेगम को, मृत्यु के लिए प्रस्तुत कर दिया था। बृहस्पति द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत में जातीय-हित की संकीर्णता एवं क्षुद्र स्वार्थपरता की गंध आती है और जहांगीर के न्याय से उदात्त मानवीय-मूल्य एवं न्यायप्रियता की। जहांगीर अथवा उनके काजी ने यह कभी नहीं कहा कि गायों का दान देकर अथवा रिश्वत में धन देकर, हत्या के अपराध से मुक्ति पा लो।

यही नहीं, संकीर्ण हृदय एवं स्वार्थप्रेरित पुरोहिती ब्राह्मण-समाज ने, मनु के नाम पर, एक व्यवस्था यह भी स्थापित की—'ब्राह्मण शूद्र का धन बेरोकटोक ले सकता है, क्योंकि उसका अपना धन कुछ नहीं है। समस्त धन उसके स्वामी का है' (8-417)। मनु के नाम से, इस वर्ग ने, यह भी कहा—'धन का संग्रह करने में समर्थ शूद्र को ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करके वह ब्राह्मण को ही सताता है' (वही, 15-129)। यहां एक सवाल पैदा होता है कि शूद्र द्वारा धन का संचय करने से ब्राह्मण को ही कष्ट क्यों होता है, अन्य वर्णों को नहीं? उत्तर स्पष्ट है कि समाज में श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए ऐसी बात कहनी आवश्यक थी। न केवल मनु, वरन् कौटिल्य भी ब्राह्मण की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने पर तुले हैं। आश्चर्य इस बात पर होता है कि प्रथम मानव मनु, अपनी संतान के प्रति, इतना अन्याय करने पर क्यों तुले थे? यथार्थ में, दोष मनु का नहीं, दोष है, मुफ्तखोरी के साथ सुखमय जीवन बिताने के लिए, सिद्धांतों की तोड़-फोड़ करने वाले पुरोहिती ब्राह्मण समाज का। उसने मनु की आढ़ में, तीर

चलाया है और हर स्थान पर, अपनी महत्ता, श्रेष्ठता, सर्वज्ञता और अलौकिक शक्ति का प्रतिपादन किया है। इस बात की साक्षी इन पंक्तियों से मिलती है–

शनकैस्तु क्रियालोपाद् इमा क्षत्रीय जातयः।
वृर्षलत्व गता लोके ब्राह्मणां मदर्शनेनचः ॥

तात्पर्य यह है कि पहलव, दरद, खस, काम्बोज और शम (शक) आदि कितनी ही जातियां ब्राह्मणों से संस्कार न कराने के कारण वृपलत्व या अनार्यत्व को प्राप्त हो गईं। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस व्यक्ति या जाति ने, ब्राह्मण-समाज के ढोंग, धार्मिक अंधविश्वास आदि को अस्वीकार किया, वह अनार्य और जिसने आंख बंद करके उनकी बात मान ली, वह आर्य मान लिया गया। यह तर्क, स्वयं ब्राह्मण समाज द्वारा निर्धारित जाति की उत्पत्ति सम्बंधी सिद्धांत का विरोध करता है। एक ओर तो कहा गया है कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय बाहुओं से, वैश्य उदर से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए हैं और दूसरी ओर उक्त श्लोक में कहा गया है कि ब्राह्मण से संस्कार न कराने के कारण लोग शूद्र बन जाते हैं। परस्पर विरोधी इस मान्यता से निष्कर्ष यही निकलता है कि ब्राह्मण-वर्ग के लोगों ने, अपनी जातीय श्रेष्ठता बनाने के लिए तरह-तरह के सिद्धांतों की रचना की। प्रचार के साधन उनके पास थे, चिंतन-मनन के साधन उनके पास थे, उनको न तो शत्रु से अपनी रक्षा की चिंता थी और न खाने-पीने के साधन जुटाने की चिंता उनको थी। ये सब काम औरों के उपर थे। वे केवल दूसरों द्वारा अर्जित सम्पत्ति का भोग करते थे। ऐसा करते रहें, इसमें किसी प्रकार का व्यवधान न आये, उनका सुख, वैभव और शांति सुरक्षित रहे। इसके लिए, उन्होंने धर्मशास्त्र का सहारा भी लिया और राजतंत्र का भी। एक ओर, उन्होंने 'मनु' के नाम से, अपने महत्व, श्रेष्ठता एवं वर्चस्व को बनाये रखने के लिए धार्मिक सिद्धांत गढ़े और दूसरी ओर विरोधियों को दबाने के लिए राजसत्ता का आश्रय भी लिया। देवासुर और दाशराज संग्राम के मूल में भी पुरोहिती समाज की यही संकीर्ण जातीय श्रेष्ठता और वर्चस्व स्थापना की भावना अन्तर-निहित प्रतीत होती है।

विज्ञान और इतिहास के छात्र चौधरी चरण सिंह को पुरोहित-समाज द्वारा रचित धार्मिक एवं नीतिगत साहित्य में इतिहास तथा मानवशास्त्र-विरोधी तथ्य दिखाई पड़ने लगे। उनको स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा कि एक समय, यानी वैदिक-युग में आर्यों का जीवन संघात्मक था। उसमें वर्णगत विरोध, जातीय वैमनस्य, उंच-नीच की भावना नहीं थी। यह भावना पैदा की थी, पुरोहित समाज ने। इस सीमा में वशिष्ठ, पाराशर, परशुराम, द्रोण आदि सभी पुरोहित आते हैं। उनको, लगने

लगा कि सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओं में विरोध एवं संहार के बीज इस वर्ग ने ही बोये थे, ताकि अन्य वर्णों की शक्ति का ह्रास होता रहे, उनका अपना वर्चस्व कायम रहे, उनके आश्रमों का वैभव बना रहे और राजसत्ता पर वे अपना प्रभाव बनाये रख सकें। इस वर्ग को, अपने उद्देश्य में सफलता भी मिली।

अपनी सफलता को स्थायी बनाये रखने के लिए ही, पुरोहित वर्ग ने एक ऐसी लक्ष्मण-रेखा अपने चारों ओर खींच ली कि न तो गायत्री मंत्र के रचयिता विश्वामित्र उनके वर्ग में प्रवेश पा सके, न उनके शत्रु 'कालेयो', के वध का मार्ग प्रशस्त करने वाले 'अगत्स्य', न मरुभूमि में सरस्वती का प्रवाह पहुंचाने वाले 'कवष एलुष' उनकी सीमा में आ सके और न जनक जैसे विद्वान्। यही नहीं, दासी, वेश्या और निम्न जातियों की नारियों का भोग करने के उद्देश्य से उन्होंने अनुलोम-प्रतिलोम विवाह-पद्धति को मान्यता प्रदान की। इसी के फलस्वरूप आदिवासी नारी से उत्पन्न वशिष्ठ को एवं धीवर कन्या के गर्भ से पैदा हुए व्यास को ऋषियों में स्थान दिया गया। ये तथ्य संकेत करते हैं कि पुरोहित वर्ग ने, अपनी चरित्रहीनता को भी प्रतिष्ठा प्रदान करने का काम किया। साथ ही जातीय श्रेष्ठता बनाये रखने के लिए उन्होंने सब कुछ किया।

700 वर्ष ईसा पूर्व उपनिषद् काल में क्षत्रिय तथा ब्राह्मण ऋषियों का संघर्ष समाप्त हो जाता है। दोनों वर्ग, अपने-अपने अधिकारों को बांट लेते हैं। राजसत्ता पर क्षत्रियों का एकाधिकार हो जाता है और विद्यार्जन तथा पठन-पाठन पर ब्राह्मण वर्ग का। धीरे-धीरे ब्राह्मण-समाज ने भूमि का अधिकार भी छोड़ दिया और वह परिश्रम के कार्यों से दूर रह कर ज्ञान के बल पर अपना वर्चस्व बनाये रखने की योजना पर जुट गया। आश्रमों में बैठकर, यह वर्ग चिंतन-मनन पर लग गया और स्मृति तथा पुराणों की रचना करने लगा। वह धर्म तथा दर्शन की व्याख्याएं करने लगा और इसके माध्यम से, अपने वर्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने में समर्थ हो गया। इसके बल पर ही, इस वर्ग में सामंतों की प्रशस्तियां पढ़ीं, उनको ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर आदर दिया और अपने लिए, राजशक्ति द्वारा, भूदेव की उपाधि प्राप्त की। यही नहीं, दक्षिणा के रूप में प्रचुर धन तथा दान पाने की व्यवस्था भी कर ली। छान्दोग्य उपनिषद में राजा जानश्रुति रैक्व मुनि को ग्राम दान करता है और साथ में दास तथा दासियां भी दान में देता है। यहां एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न छात्र चौधरी चरण सिंह के मानस में अवश्य पैदा हुआ होगा। विपुल दक्षिणा के अतिरिक्त गायों तथा दासों की ऋषि रैक्व को क्या आवश्यकता थी? ऋषि का कार्य केवल चिंतन-मनन तथा तप करना था, तो उसको विपुल दक्षिणा तथा दास-दासियों की क्या आवश्यकता थी? इस प्रश्न का,

मनोवैज्ञानिक उत्तर भी उनको सहज प्राप्त हो गया होगा। निश्चय ही, आप इस निष्कर्ष पर पहुंचे होंगे कि मानव चाहे भारत का हो, चाहे योरोप का, उसके मन में सत्ता तथा वैभव भोग की कामना स्वाभाविक है। योरोप में जिस प्रकार धर्म के आसन पर बैठे पोप के हाथ में, राजसत्ता थी। उसके पास सैनिक ताकत थी और अपने विरोधियों को धर्म-युद्ध (क्रूसेड) के माध्यम से, कुचलने का अधिकार भी प्राप्त था, इसी तरह भारत के आश्रमवासी ऋषियों के पास भी सभी प्रकार की शक्तियां थीं। उनके बल पर, वे आपस में भी लड़ते थे और मिलकर विरोधी सामंतों को कुचलते भी थे। परशुराम तथा हैहयवंशी यादवों का संघर्ष इसका प्रमाण है। जिस प्रकार योरोप में, चर्च विरोधी को नास्तिक कहे जाने की परम्परा मिलती है, उसी तरह भारत के वैदिक-काल में ब्राह्मण-नीति विरोधी होने के कारण पैजवन नामक राजा को शूद्र मानने का उदाहरण मिलता है। महाभारत के शांतिपर्व के अनुसार, ब्राह्मण-परंपरा अर्थात् उनके एकाधिकार की प्रवृत्ति का विरोधी होने के कारण, उसको शूद्र घोषित किया गया। यही नहीं, आगे चलकर पुरुष मेघ यज्ञ में उनके बलि देने की प्रथा भी चला दी गयी थी। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि धर्म और सामाजिक जीवन-मूल्यों के आचरण में, पुरोहित वर्ग ने, अपने विरोधी विचारकों को, समाप्त करने के अनेक हथकंडे तैयार कर रखे थे। अपने विरोधी को शूद्र और राक्षस आदि कहना और उनके ध्वंस के लिए योजना बनाना, उनका सबसे सबल हथियार था।

इतिहास के छात्र चौधरी चरण सिंह ने देखा कि सन् 1450 में मार्टिन लूथर ने चर्च की सत्ता को चुनौती देकर फ्रांस में पुनर्जागरण का सूत्रपात किया था, लेकिन विश्वामित्र ने वैदिक युग में और कर्ण ने महाभारत-काल में आर्य और शूद्र के मत पर प्रकार किया था। उसका कथन है–'सूतो वा सूत पुत्रो वा यो वा को वा भयाम्यहम। देवायत्तं कुले जन्मः मयायत्तु पौरुषम' अर्थात मैं चाहे सूत हूं अथवा सूत का पुत्र हूं। इस बात का कोई अर्थ नहीं है। किसी उंच या नीच कुल में जन्म लेना भाग्य की बात है, लेकिन मैं तो पुरुषार्थ में विश्वास करता हूं। पुरुषार्थ में विश्वास रखने वाले उस वीर योद्धा को न तो परशुराम ने शिक्षा दी, न द्रोण ने धनुर्विद्या में होने वाली प्रतियोगिता में शामिल किया। यही नहीं, एकलव्य को भी द्रोण के शिष्यत्व से वंचित होना पड़ा था। ये सभी तथ्य, के. एम. मुंशी की इस धारणा को पुष्ट करते हैं कि 'महाभारत युद्ध के समय जातीय संघों का काफी जोर हो गया था' (देखें वासुदेवशरण अग्रवाल, इंडिया एज नोन टू पाणिनि, पृष्ठ 452)। इन जातीय संघों के उदय का एक मात्र कारण पुरोहित समाज के चिंतन तथा कार्य प्रतीत होते हैं। उनकी स्वार्थपरता

की प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। गौतम बुद्ध तथा महावीर ने बड़े प्रभावशाली तरीके से उनकी धार्मिक स्थापनाओं को चुनौती दी, यज्ञ और पशु-बलि का प्रबल विरोध हुआ। फलतः पुरोहिती समाज को सबल आघात लगा, लेकिन यह वर्ग प्रतिरोध के पथ पर, उतनी ही आक्रामक शैली में, आगे बढ़ता रहा। उसने 'बौद्धा जैनाश्चः शूद्रा' कहकर समाज में उनके प्रति घृणा उत्पन्न करने का प्रयास किया। यही नहीं, उसने यहां तक कहा कि 'हस्तिनापि ताड़येत न गच्छतम जैन मंदिरम' अर्थात् तुमको मारने के लिए तुम्हारे पीछे हाथी भाग रहा हो तो तुम जैन-मंदिर में घुसकर अपने प्राणों की रक्षा न करो। अपने आर्थिक स्वार्थों की रक्षा के लिए, पुरोहित-समाज ने, जैनी तथा बौद्धों के प्रति इतनी घृणा का प्रचार किया कि भारत की जनता को, जाति और धर्म की दीवारों में, बांट कर देश को कमजोर कर दिया। पुरोहित समाज के धार्मिक ढोंग, थोथे आडम्बरों, अंधविश्वास पर आधारित रीति-रिवाजों और यज्ञ में की जाने वाली हत्या के विपरीत जनमत तैयार करके बौद्धों और जैनों ने जनता को धार्मिक लूट और शोषण से बचाया था। लेकिन अपनी जातीय श्रेष्ठता और आर्थिक लाभों को कायम रखने के लिए, इस समाज के प्रतिनिधि, मौर्य शासन के ब्राह्मण मंत्री 'पुष्यमित्र' ने, अंतिम मौर्य राजा का वध करके, राज्य पर अधिकार कर लिया और इतनी क्रूरता के साथ बौद्धों का संहार किया, जिसका उदाहरण औरंगजेब के शासन अथवा अहमदशाह अब्दाली के दिल्ली तथा ब्रज पर आक्रमण के समय जन-संहार में ही मिल सकता है। इसमें कोई शक नहीं कि 'पुष्यमित्र' ने तलवार के द्वारा और 'शंकराचार्य' ने शास्त्रार्थ के बल पर, दूसरे धर्मावलंबियों का सफाया कर दिया था, पर वे न तो मंदिरों में बढ़ते दुराचार और जन-शोषण को रोक सके, न उनके प्रति लोक-मानस में उभरती विरोधी भावना को और न स्वयं अपने तथा मंदिरों के पराभव को। 'पुष्यमित्र' स्वयं खारवेल के हाथों मारा गया और मंदिरों को औरंगजेब ने ध्वस्त करा दिया। उसने गुजरात की अपनी सूबेदारी के काल में, अहमदाबाद में हाल में ही बने चिंतामणि के मंदिर में गो-हत्या कराई और बाद में उसको मस्जिद में बदल दिया।[1] अपने शासन-काल में उसने कटक से लेकर मेदिनीपुर उड़ीसा के प्रत्येक गांव और शहर के मंदिरों को गिरवा दिया, यहां तक कि झोपड़ियों में स्थापित मंदिरों को भी नष्ट करा दिया।[2] 9 अप्रैल 1669 को उसने एक आदेश निकाला कि काफिरों के सब विद्यालय और मंदिरों को गिरा दिया जाये।[3]

1. सर यदुनाथ सरकार, औरंगजेब, 1951, पृष्ठ 193
2. वही, पृ. 193
3. वही, पृ. 195

जनवरी 1670 में उसने मथुरा के कटरा केशवदेव के मंदिर को ध्वस्त करा दिया।[1] इससे पूर्व, उसने इसी मंदिर से, 'दारा' द्वारा लगवाये, जगमोहन को, सन् 1666 में निकलवा लिया था।[2] जून 1680 में उसने, अपने सेनापति से आम्बेर नरेश की राजधानी के सारे मंदिर गिरवा दिये थे।[3] इसकी प्रतिक्रिया हिन्दू-समाज में हुई, जिसका परिणाम मुगल-सल्तनत का पराभव हुआ। इससे यह नतीजा निकलता है कि जातीय तथा धार्मिक संघर्ष से किसी का हित नहीं होता, उलटे देश कमजोर होता है। जातीय एवं धार्मिक जनून में, औरंगजेब ने, यदि अत्याचार न किये होते तो उसकी संतानों अर्थात् शाही-परिवार के लोगों को, नादिरशाह तथा अब्दाली के आक्रमणों के समय अपमान तथा बेइज्जती के घूंट न पीने पड़ते। अपमान शाही-परिवार का ही नहीं, वरन् अब्दाली के आक्रमण के समय, औरों की अपेक्षा मथुरा के ब्राह्मण-समाज का अधिक हुआ। पुजारी तो देवताओं की प्रतिमाओं को लेकर भाग गये, पर होली के रंग में डूबी मथुरा की महिलाएं अब्दाली के सैनिकों के हाथ लगीं, जिन्होंने कुओं या यमुना में कूद कर प्राण खो दिये, वे अपमान से बच गईं और जो जीवन के मोह में बच गईं, उनकी त्रासदी से आकाश भी रो उठा था।[4] इतना बड़ा अन्याय, मानवता का इतना बड़ा अपमान जातीय तथा धार्मिक विद्वेष का परिणाम था। इसकी भयंकरता पर न तो हिन्दू पुजारी रोया होगा और न मुस्लिम काजी। लेकिन अच्छा इंसान और इंसानियत अवश्य रोई थी। इसी व्यथा से पीड़ित, ब्रज की वीर जनता, महाराजा सूरजमल के नेतृत्व में मुस्लिम जातीय वैमनस्य को समाप्त करने के लिए निकल पड़ी थी, यदि 1765 में सूरजमल का आकस्मिक निधन न हुआ होता तो उत्तर भारत नजीबुद्दौला की संकीर्ण जातीय भावना से मुक्त हो गया होता, लेकिन अभी देश को, हिन्दू जातीय संकीर्णता के अभिशाप से पीड़ित होना शेष था।

यही नहीं, औरंगजेब ने हिन्दुओं का हाथी, घोड़ा या पालकी पर चढ़ने का अधिकार भी छीन लिया था, उन पर जजिया लगाया था और कानूनगो बनने के लिए मुसलमान बनना जरूरी कर दिया था। शक्ति और समृद्धि संहार में निहित नहीं होती और न वह घृणा तथा वैमनस्य के परिवेश में पलती है, वरन् वह पलती है, शांति, एकता और मित्रता के वातावरण में। शांति, समृद्धि और स्थायित्व का फार्मूला न औरंगजेब को मालूम था, न सिंध के ब्राह्मण नरेश दाहिर

---

1. सर यदुनाथ सरकार, औरंगजेब, 1951, पृष्ठ 194
2. वही, पृ. 194
3. वही, पृ. 194
4. वही, पृ. 198, 199

को। पुण्यमित्र की जातीय संकीर्णता और धार्मिक वैमनस्य का अंत हुआ था, 'खारवेल' के हाथों। 'दाहिर' का जातीय गर्व समाप्त हो गया, 'मुहम्मद बिन-कासिम' की तलवार से, औरंगजेब और उसकी संतान की जातीय संकीर्णता की धूल उड़ा दी थी छत्रपति शिवाजी और बाद में, ब्रजभूमि के जाटों के नेतृत्व में उभरे जन-आंदोलन ने। उनकी, यानी जातीय वैमनस्य की भावना में डूबे हिन्दू तथा मुस्लिम सामन्तों की समझ में यह बात नहीं आई कि साधनहीन तथा कमजोर जातियों की संगठित शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि उसके सामने सम्राटों की सेनाएं भी हार मान जाती हैं। सिनसिनी (भरतपुर) के जाट-विद्रोही चूरामन के मुकाबले मुगल-राजपूत-सेनाओं की पराजय इस कथन की साक्षी है।

शिवाजी महाराज के राष्ट्रीय उद्देश्य से अलगावित पेशवा के सेनापति सदाशिव राव भाउ और उनके सामन्तों की संकीर्ण जातिवादी उत्कर्ष की नीति का परिणाम विनाशकारी भयंकर हार हुई और सूरजमल की जातीय सद्भावना, सांस्कृतिक एकता और हिन्दू तथा मुस्लिम शिल्प एवं कला की समान भाव से रक्षा का परिणाम उसके गौरव की रक्षा के रूप में सामने आया।

छात्र, चौधरी चरण सिंह के सामने इतिहास का यह सत्य मौजूद था इंसानियत की रक्षा, इंसान के साथ अच्छा व्यवहार करने से होती है। वह जानते थे कि हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई और पारसी सभी परमपिता परमेश्वर की संतान हैं, सब एक हैं। ये भेद-भाव तो ऊपरी और बनावटी हैं। इन बनावटी भेदों को, सत्य मानकर, इंसान-इंसान में फर्क करना न सिर्फ अज्ञान है, वरन् एक प्रकार का नैतिक अपराध और पाप है। यही कारण है कि उनको गौतम बुद्ध, महावीर और महर्षि दयानन्द श्रेष्ठ लगते थे और ब्राह्मण तथा गैर-ब्राह्मण में अन्तर करने वाले मंदिरों के पुजारी, मठों के मठाधीश और राजनीति के आसन पर बैठे, देशों के भाग्यविधाता मानवता के दुश्मन प्रतीत होते थे। उनकी नजरों में, ब्राह्मण और हरिजन में कोई अन्तर न था। गांधीजी का यह विचार उनको आकर्षित कर रहा था, फलतः वह जातिगत भेदभाव को नकार चुके थे और सबको, समान रूप से एक मानकर चलते रहे थे। आगे के पृष्ठों में आप, उनके नीतिगत आचरणों के कई ठोस उदाहरण पढ़ेंगे।

7

चौधरी चरण सिंह के अन्तर्मन में उदित जाति-विरोधी भावना

मेरा विश्वास है कि इतिहास के छात्र चौधरी चरण सिंह को, निश्चय ही, जन-समाज को धोखा देने वाले तथाकथित धार्मिकों के प्रति अरुचि उत्पन्न हुई होगी और इसी ने उनको धार्मिक ढोंग, आडम्बर तथा अंधविश्वासों पर चोट मारने वाले महर्षि दयानन्द पर गर्व करना सिखाया होगा। वह इस निष्कर्ष पर भी पहुंचे होंगे कि देश का कल्याण इन तथाकथित धार्मिकों से कभी नहीं हो सकेगा। उन्होंने ज्यों-ज्यों अतीत की ओर देखा, त्यों-त्यों उनका विश्वास दृढ़ होता गया कि इन लोगों की अपेक्षा ग्रामीण किसान अधिक धार्मिक और देशभक्त हैं। वे शकों से लड़े, उन्होंने हूणों को देश से बाहर भगाया, उन्होंने एक लम्बे समय तक अरबों को देश की सीमा में प्रवेश करने से रोका, उन्होंने मुहम्मद-बिन-कासिम से टक्कर ली, वे महमूद गजनवी पर पिल-पड़े, वे मोहम्मद गोरी और अब्दाली के सामने दीवार बनकर खड़े हुए, लोक-विरोधी मुगल-सल्तनत को धूल में मिलाने का कार्य भी उन्होंने किया और स्वाधीनता के प्रथम संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका भी उन्होंने ही निभाई थी। इन ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर, चौधरी साहब, अपने छात्र-जीवन में इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि गंगा-यमुना की इस पावन भूमि पर, जातीय संकीर्णता का बीज, पुरोहित समाज ने बोया है और इसके विपरीत किसानों ने सांस्कृतिक समन्वय, जातीय सामंजस्य और राष्ट्रीय एकता के स्थायित्व में प्रमुख भूमिका निभाई है। उनके छात्रजीवन का यह चिंतन, उनकी राजनीतिक चेतना का निर्माण कर रहा था। उनमें जाति-विरोधी भावना जड़ जमा रही थीं। शनैःशनैः वह इस निष्कर्ष पर आश्वस्त होते जा रहे थे कि वैदिक काल में भी जातीय पृथकता, भेदभाव, श्रेष्ठता और अपने लिए ही गौरवार्जन की भावना के बीज ऋषियों ने बोये थे। विश्वामित्र और वशिष्ठ के संघर्ष का

कारण गाय बताकर, यथार्थ से लोगों को अनभिज्ञ रखने का प्रयास उस काल में भी किया गया और आधुनिक काल में भी, लेखकों तथा कवियों ने किया है। यथार्थ यह है कि वशिष्ट अयोध्या के राजा के गुरू हैं और विश्वामित्र स्वयं राजा हैं। वह किसी राज-कार्य पर विचार-विनिमय करने के लिए वशिष्ठ के पास आते हैं। उनका स्वागत-सत्कार तो किया जाता है, पर समस्या के समाधान की ओर से उपेक्षा की जाती है। इससे विश्वामित्र के अभिमान को चोट लगती है। वह नाराज होकर चले जाते हैं। यही उनके संघर्ष का बीज है, इस बीज को उपजाऊ भूमि मिली, पुरोहिती कर्म की संकीर्ण नीति में।

वशिष्ट को ब्रह्मा का 'मानस-पुत्र' कहा गया है। इसका सीधा-सा अर्थ है कि वह ज्ञानी, तपस्वी और बुद्धिमान थे, अतः उनका स्वाभिमानी तथा महत्वाकांक्षी होना भी स्वाभाविक था। सूर्यकान्त बाली के अनुसार अयोध्या के कुल-गुरू वशिष्ठ हिमालय से चलकर अयोध्या आये थे।[1] हिमालय से अयोध्या आने का कारण आप सामाजिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना बताते हैं। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है और हमारे पहले तर्क की पुष्टि होती है कि वर्ण-विभाजन के पश्चात् जातिगत विभाजन होने और सम्पदा के अधिकार को भी राजा तथा पणि के लिए छोड़कर, ब्राह्मण केवल पुरोहिती तथा विद्यादान द्वारा ही जीविकोपार्जन पर टिक गये थे। अस्तु, इसी कर्म को, आमदनी का साधन बनाने के लिए, उन्होंने एक ओर शासक पर धार्मिक नियंत्रण की योजना की, दूसरे उसको यज्ञ करने का लालच देकर सम्पत्ति अर्जित करने का मार्ग खोज निकाला और अपने कर्म को धर्म की चादर से, ठीक उसी प्रकार ढक दिया, जिस प्रकार आज का राजनेता लोकतंत्र के सिद्धांतों, लोकहित की योजनाओं के वायदों और प्रगति के सब्जबाग दिखाकर अपनी विफलता, स्वार्थ, संकीर्णता, चारित्रिक एवं सैद्धांतिक शिथिलताओं को छिपा लेता है। जिस तरह आज नेता, अपने क्षेत्र में किसी अन्य का प्रवेश न होने देने के लिए जमीन-आसमान के कुलावे मिलाता है, ठीक उसी प्रकार ब्राह्मण-पुरोहित तथा ऋषि ने इस बात का पक्का बन्दोबस्त किया कि उसके क्षेत्र में गैर-ब्राह्मण शामिल न हो सके, इसके लिए हरसम्भव प्रयास किये गये। प्रथम गायत्री मंत्र के रचयिता विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि न मानना, 'कालेय' राक्षसों के संहार के लिए समुद्र को सोखने वाले 'अगस्त्य' ऋषि को सप्तर्षि मंडल में स्थान न देना, 'जनक' जैसे ज्ञानी एवं साधक को ऋषि न मानना, 'कवष ऐलूष' को सरस्वती के किनारे होने वाले यज्ञ में शामिल न होने देना, सूक्त के रचयिता

1. सूर्यकान्त वाली, भारत के मील-पत्थर, नवभारत टाइम्स, 15 मई, 1995

'शुनः शेप' को नर-बलि के लिए खरीदना और तापस 'शम्बूक' का वध करा देना आदि इसके प्रमाण हैं।[1] ये उदाहरण स्पष्ट करते हैं कि ब्राह्मण-समाज अपने क्षेत्र में प्रतिद्वंद्वी नहीं देखना चाहता था।

वशिष्ठ और विश्वामित्र के लम्बे संघर्ष के मूल में भी अधिकारलिप्सा अर्थात् पुरोहित, कुलगुरु और कुलऋषि के रूप में, अप्रत्यक्षतः शासन के सूत्र अपने हाथों में रखने की योजना ने उनको आमने-सामने खड़ा कर दिया था। और इस प्रकार समाज को ब्रह्मर्षि और राजर्षि के नाम से बांटने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी थी। पीछे कहा जा चुका है कि वशिष्ठ हिमालय से चलकर मैदानी क्षेत्र में आये थे। जब कोई व्यक्ति, अपने मूल अभिजन को छोड़कर कहीं अन्यत्र जाता है तो उसके मूल में सबसे पहले एक कारण होता है, जीविकोपार्जन के अधिक अच्छे साधन और सुविधा की उपलब्धि। वशिष्ठ के निष्क्रमण के मूल में भी यही कारण रहा होगा। उनको अपने ज्ञान-प्रकाशन का अच्छा क्षेत्र और साधन हिमालय पर नहीं मिल रहे होंगे। अतः वह एक बड़े तथा समृद्ध क्षेत्र पांचाल के राजा 'सुदास' के यहां आये। यहां से भी वह चले और पौरव नरेश 'संवरण' के यहां पहुंचे। यहां से भी चले और दक्षिण कौशल नरेश 'कल्माषपाद' के पुरोहित बने। इसके बाद, वह अयोध्या नरेश दशरथ और राम के कुलगुरू बने।[2]

इस इतिहास से ज्ञात होता है कि सुदास के यहां से वशिष्ठ के हटने पर विश्वामित्र पांचाल नरेश सुदास के पुरोहित बने थे। यह घटना दोनों की प्रतिद्वंद्विता की ओर संकेत करती है और इस शत्रुता का कारण है दोनों का ज्ञान, अहंकार, महत्वाकांक्षा और अपने प्रतिद्वंद्वी को पराजित करने की उत्कट अभिलाषा। सुदास द्वारा किये गये किसी यज्ञ में 'वशिष्ठ पुत्र 'शक्ति' ने 'विश्वामित्र' को वाणी रहित कर दिया था।'[3] और जमदग्नि की सहायता से ही इन्हें भाषण शक्ति आई थी।'[4] यदि इतिहासकार यह कहता कि वशिष्ठ ने विश्वामित्र को वाणी रहित कर दिया था, तो इसका अर्थ यह होता कि शास्त्रार्थ अथवा ज्ञान के क्षेत्र में वशिष्ठ ने विश्वामित्र को पराजित कर दिया था, लेकिन इतिहास तो कहता है कि वशिष्ठ पुत्र शक्ति ने उनको वाणी रहित किया था। इसका अर्थ यह निकाला जा सकता है कि शक्ति ने उनको कोई ऐसी वस्तु खिला दी थी, जिससे उनकी भाषण-शक्ति कुंद हो गयी थी। जमदग्नि ने इसका उपचार किया होगा।

---

1. मिश्रबंधु, बुद्धपूर्व भारतीय इतिहास, पृ. 176
2. वही, पृ. 176
3. वही, पृ. 176
4. वही, पृ. 176

फलतः उनको फिर से भाषण शक्ति मिली होगी। दोनों की शत्रुता का यह दूसरा कारण रहा होगा। पहला कारण था, वशिष्ठ द्वारा विश्वामित्र के ज्ञान, पांडित्य और तपस्या का महत्त्व स्वीकार न करके उनको ब्रह्मर्षियों में स्थान न देना। दोनों के विरोध और वैमनस्य के कुछ कारण और भी थे। बुद्धपूर्व भारतीय इतिहास से संकेत मिलता है कि वशिष्ठ पुत्र शक्ति ने, जब विश्वामित्र को वाणी-रहित कर दिया और उनको जमदग्नि द्वारा किये गये उपायों से पुनः वाणी प्राप्त हुई, तो उन्होंने प्रतिशोध लेने के लिए शक्ति को जंगल में मरवा दिया, राज-सेवकों द्वारा आग में जलवा दिया।[1] महाभारत की मान्यता है कि शक्ति उद्दंड प्रकृति के व्यक्ति थे और मुख्यतः यही उनके वध का कारण है।[2] पांचाल नरेश सुदास सम्भवतः शक्ति की उदंडता से अप्रसन्न हुए होंगे और उसका परिणाम वशिष्ठ का वहां से निष्कासन अथवा बहिर्गमन रहा होगा। वशिष्ठ जब दक्षिण नरेश कल्माषपाद के यहां पहुंचे तो विश्वामित्र ने किंकर नामक एक राक्षस को राजा का मित्र बनवा दिया, जिसने सारे वशिष्ठों को नरमांस के लिए मरवा दिया।[3] सम्भवतः इसी कारण से वशिष्ठ दक्षिण कौशल छोड़कर अयोध्या आये थे। बीच में कहां रहे, इसका ज्ञान नहीं है। पांचाल नरेश सुदास ने वशिष्ठ को पुरोहित के स्थान से हटाकर विश्वामित्र को अपना पुरोहित बनाया था। इस प्रकार इनकी शत्रुता गहरी हुई। शक्ति के वध ने, उस पर और भी गहरा रंग चढ़ाया होगा। वशिष्ठ द्वारा उद्दंड प्रकृति के पुत्र का समर्थन उनके सौम्य आचरण और स्वभाव का परिचायक नहीं माना जा सकता।

दोनों वशिष्ठ तथा विश्वामित्र के विरोध का एक और कारण पुराणकारों ने बताया है और वह है—विश्वामित्र द्वारा वशिष्ठ की गाय नंदिनी को मांगना और वशिष्ठ द्वारा देने से इंकार कर देना। यथार्थ में, शत्रुता का यह कारण न तो तर्क की कसौटियों पर खरा उतरता है और न सामयिक परिस्थितियों के यथार्थ पर। यदि, विश्वामित्र का मन नंदिनी को लेने का बना होता तो वह ले लेते। जब वह 'शक्ति' (वशिष्ठ के पुत्र) को जंगल में आग लगाकर भस्म करा सकते थे, दक्षिण कौशल नरेश कल्माषपाद को प्रभावित करके वशिष्ठों को मौत के घाट उतार सकते थे, सुदास तथा कल्माषपाद के राज्यों में वशिष्ठ की पुरोहिती छिनवा सकते थे और वशिष्ठ की मलेच्छों की सेना को पराजित कर सकते थे, तो नंदिनी को भी हस्तगत कर सकते थे। इस संदर्भ में, जितनी बातें

1. मिश्रबंधु, बुद्धपूर्व भारतीय इतिहास, पृ. 177
2. वही, पृ. 177
3. वही, पृ. 177

कही गई हैं, वे पुराणकारों का पुरोहिती-प्रचार मात्र है। दोनों के विरोध का एक अन्य कारण भी मिलता है जो तर्क तथा सामयिक यथार्थ की कसौटी पर खरा भी उतरता है। वह कारण है—वशिष्ठ द्वारा उनकी उपेक्षा। वशिष्ठ राज्य के पुरोहित थे और विश्वामित्र कान्यकुब्ज के राजा। वह किसी विवाद के समाधान के लिए वशिष्ठ के राज्य में गये थे। उनका स्वागत तथा अभिनंदन तो किया गया, पर मंत्री के रूप में वशिष्ठ ने उनके विवाद की ओर आवश्यक ध्यान नहीं दिया। दोनों के विरोध का प्रारंभ यहां से होता है। वशिष्ठ अपने ब्राह्मण होने के गर्व में चूर थे और विश्वामित्र अपने ज्ञान और तपस्या में। भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय मंत्र की रचना करने वाले ऋषि का अपमान अशोभनीय था एवं राजनैतिक नियमों के विपरीत। लेकिन ब्रह्मा के तथाकथित मानस-पुत्र होने के गर्व में, वशिष्ठ ने किसी के पांडित्य को स्वीकार नहीं किया, वह चाहे अगस्त्य हों, चाहे कवप ऐलुप, चाहे विश्वामित्र हों, चाहे शुनःशेष। उनका यह घमण्ड ही आगे चलकर संघर्ष का कारण बना।

विश्वामित्र ने राम और लक्ष्मण को धर्नुविद्या का ज्ञान कराके राक्षसों का वध कराया, राक्षसों से ऋषि-संस्कृति को बचाया और जनक के यहां शिव-धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने की कला राम को सिखाई और वशिष्ठ ने दशरथ के बाद, चौदह वर्ष अयोध्या के राज्य का संचालन किया। राजकीय सुख पाया। यदि दोनों (वशिष्ठ व विश्वामित्र) के कार्यों का निष्पक्ष मूल्यांकन किया जाए तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि विश्वामित्र का कार्य लोकोन्मुखी तथा प्रगतिशील है और वशिष्ठ का प्रतिक्रियावादी, संकीर्ण और व्यक्तिवादी। अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए वशिष्ठ नर-बलि का प्रवर्तन कराते है।

नर-बलि का आख्यान इस प्रकार है। अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र ने वशिष्ठ को पुरोहित बनाकर पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञ कराया। पुत्र पैदा हुआ। उसका नाम रखा गया 'रोहित', पर शर्त यह लग गई कि 'रोहित' के बड़ा होने पर, उसे वरुण को बलि दे दिया जायेगा। समझदार होने पर जब रोहित को ज्ञात हुआ कि उसकी बलि दी जानी है, तो प्राणों के मोह से वह वशिष्ठ के परामर्श पर जंगल में भाग गया।[1] वशिष्ठ ने ही व्यवस्था दी कि बलि तो देनी ही है, वह चाहे रोहित की हो या उसके स्थान पर किसी अन्य की। अतः राजा ने बलि के लिए व्यक्ति की खोज करनी प्रारम्भ कर दी और 'अजीगर्त' नामक एक निर्धन ब्राह्मण हाथ लग गया। उसने स्वयं मौत से बचने और सम्पत्ति अर्जन

1. मिश्रबंधु, बुद्धपूर्व भारतीय इतिहास, पृ. 197

की कामना से, अपने मंझले पुत्र 'शुनःशेष' को राजा के हाथों सौ-गायों के बदले बेच दिया। 'शुनःशेष' को यज्ञ-स्तम्भ से उसी प्रकार बांध दिया गया, जिस प्रकार एक कसाई बलि के लिए पशु को बांध देता है। मृत्यु को सामने देखकर शुनःशेष चीख उठा और उसकी चीख से जो कविता फूटी, उसको विद्वानों ने प्रथम सूक्ति का नाम दिया है। शुनःशेष की पुकार सुनकर विश्वामित्र वहां पहुंचे। उन्होंने राजा तथा पुरोहित की नरबलि के लिए भर्त्सना की। उसको अपना पुत्र बनाया और बलि से मुक्त कराया। इसका अर्थ यह है कि वशिष्ठ नरबलि के पक्षधर थे और विश्वामित्र विरोधी। (विस्तार के लिए यह कथा पढ़िये, 'नवभारत टाइम्स', 10 जुलाई 1994 के रविवारीय परिशिष्ट में 'भारत के मील पत्थर' शीर्षक लेख, बुद्धपूर्व भारतीय इतिहास, पृष्ठ 195-200)।

दोनों के आपसी अर्थात व्यक्ति-हितैषी विरोध के कारण देश की राजनीतिक, बौद्धिक और मूल्यगत शक्ति कितनी क्षीण हुई, इसका अनुमान लगाना कठिन है। लेकिन लोक-हित के साथ प्रतिबद्ध, देश की भलाई के साथ जुड़े और इस देश के समाज में प्रत्येक व्यक्ति की समता के साथ गहराई से प्रतिबद्ध चौधरी साहब, इन दोनों के अहंकार एवं संकीर्णता पर क्षुब्ध होते रहे और उनको जातीय विद्वेष के बीज वशिष्ठ तथा उनकी परम्परा के अन्य स्वार्थी पुरोहितों के कर्मों में दिखाई हुए। इस विषय में पौराणिक साहित्य चाहे कुछ भी कहे, पर आज के वैज्ञानिक विचारक को वह संतुष्ट करने में विफल रहेगा। वशिष्ठ की अहंकार भावना, सत्तालोलुप मनोवृत्ति और अपने क्षेत्र में किसी दूसरे को प्रविष्ठ न होने देने की दृष्टि को, आज का विचारक, मानवीय मूल्यों की अवहेलना ही मानेगा। ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक है। इसी संकीर्ण मनोवृत्ति का प्रभाव, आगे चलकर सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राज परिवारों पर पड़ा। इन पुरोहितों ने, अपने हितों की रक्षा एवं पूर्ति के लिए, दोनों वंशों को लड़ाया।

इन ऋषि कहे जाने वाले कुल-गुरू या कुल-पुरोहितों ने जितनी रुचि राजा को अपने अनुकूल चलाने, धर्म के नाम पर राज्य-शासन में अपना प्रभाव बनाये रखने, यज्ञ के माध्यम से धन-सम्पत्ति एकत्र करने और स्वयं को सम्मान के सर्वोच्च स्थान पर बनाये रखने में दिखाई, उतनी राज-वंशों के विरोधों को मिटाकर उनको मित्र बनाने, अन्याय का विरोध करने, न्याय के पक्ष को जीवित रखने, लड़ाई का मार्ग पकड़कर विनाश एवं संहार की ओर जाने वाली शक्तियों को शांति, सहयोग एवं राष्ट्रीय उत्कर्ष के मार्ग पर आसीन करने में नहीं दिखाई। परिणामतः उनका भी अंत हुआ और देश भी टूटन के कगार पर आकर खड़ा हो गया। महाभारत के द्रोण न तो स्वयं को बचा पाये, न अपनी एकमात्र संतान

को और न भारतीय वीरता को। वे ज्ञान के भण्डार तो थे, पर वैदिक ऋषि की सांस्कृतिक गरिमा से शून्य थे। यदि वह कर्ण को आदर देकर धनुष-प्रतियोगिता में स्थान दिला देते और एकलव्य को अपना शिष्य बनाने की उदारता दिखाते तो उन को समान-दृष्टि का गुरु माना जा सकता था। वह अपने प्रभाव का प्रयोग करके, स्वयं को क्षत्रिय मानने के अहंकार में डूबे कौरव तथा पाण्डवों को शस्त्र-कला या धनुर्विद्या-कौशल के आधार पर प्रतियोगिता आयोजित कराने के लिए तैयार कर लेते, तो निश्चित रूप से, उनको समतावादी गुरू माना जा सकता था। लेकिन जाति और कुल के आधार पर, प्रतियोगिता आयोजित कराने वाले व्यक्ति को समदर्शी कैसे कहा जा सकता है, यह प्रश्न, चौधरी चरण सिंहजी को प्रायः परेशान करता था और सोचने के लिए विवश।

इसी संदर्भ में, एक बात और कही जा सकती है जो चौधरी साहब को विचलित किया करती थी। वह बात थी, गुरु द्रोण और कृपाचार्य की उपस्थिति में, कौरव-सभागार में, द्रोपदी को निर्वस्त्र करने की घृणित कार्यवाही और दोनों, गुरुओं द्वारा उसके विरोध में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त न करना। इसके ठीक विपरीत, चौधरी साहब का कार्य था। बागपत (जिला मेरठ) के चौराहे पर, पुलिस द्वारा एक महिला को निर्वस्त्र करके चलने के लिए विवश करने के कार्य के विरोध में, उन्होंने जनान्दोलन प्रारम्भ करके नारी के सम्मान के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की थी। महाभारत के दोनों ऋषि, नारी का सम्मान-रक्षण के कार्य से पीछे हट गए। इसके मूल में, उनके अपने स्वार्थ थे। इन्हीं स्वार्थों ने उनको वंशगत ईर्ष्या और जातिगत विद्वेष के विपरीत संघर्ष करने के लिए तैयार नहीं होने दिया और सारा देश महाभारत के संग्राम में उलझकर कमजोर हो गया। इसमें, थोड़ी-बहुत जो कमी रह गई थी, वह आर्य और नाग जातियों के पुरोहितों की जातीय-संघर्षों के साथ प्रतिबद्धता ने पूरी कर दी। इन पुरोहितों ने, कभी प्रयास नहीं किया कि आर्य और नाग मैत्री भावना के साथ रहें। दोनों जातियों को, मैत्री तथा एकता के मंच पर लाने की अपेक्षा, उन्होंने राजा 'जनमेजय' से नागयज्ञ करा दिया और इस प्रकार जातीय वैमनस्य को, इस देश की स्थायी प्रवृत्ति बना दिया। चौधरी साहब की आत्मा, इस स्थिति पर, प्रायः विद्रोहमुखी हो जाया करती थी। यही कारण है कि वह अपने छात्र-जीवन से लेकर, राजनीतिक उत्कर्ष के काल तक, जातीय संकीर्णता से मुक्त रहे।

8

सत्रहवीं सदी और भारत में जातीयता का उभार

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, भारत के पुरोहित समाज द्वारा प्रचारित तथा रक्षित जातीयता की बाढ़ ठहर गई थी। इसका मुख्य कारण तो केवल यह है कि भारत की जनता उनके देवताओं को ध्वस्त होते देख चुकी थी, उनके मंत्रबल की दुर्बलता को समझ चुकी थी और उनके धार्मिक आडम्बरों के खोखलेपन से अवगत हो चुकी थी। दूसरा कारण है कि अपने धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक प्रभाव के विघटन के कारण, उनकी गतिविधि राजदरबारों, मंदिरों एवं मठों तक सीमित हो गई थी। फलतः जातीय श्रेष्ठता का प्रसार अब देशी सामंतों तथा राजघरानों से हो रहा था। उसका धार्मिक स्वरूप कम और आर्थिक अधिक था। राजपूताना का क्षेत्र इस दृष्टि से विशेषतः उल्लेखनीय है। यहां सामंत लोग, सभी जातियों की आम जनता को अपने से हीन मानते थे और उनका आर्थिक शोषण करके, अपने जातीय वर्चस्व की स्थापना करते थे। स्वयं को ब्रह्मा का मानस-पुत्र मानने वाले वशिष्ठ के अनुयायी अथवा वंशज अब राजा तथा सामंतों के प्रशंसक बन कर रहे गये थे।

पूना में, मराठा शक्ति के उद्भव एवं शक्तिशाली होने के बाद, जातीय श्रेष्ठता का एक उबाल और आया था। पेशवा इसके जनक थे। इसकी प्रतिक्रिया, भारत के कतिपय कट्टर मुस्लिम संतों तथा सामंतों में हुई थी। दिल्ली के सूफी संत शाहबलीउल्लाह इसके कर्णधार थे और वजीर नजीबुद्दौला इसके संरक्षक तथा प्रसारक थे। लेकिन यह उबाल भी थोड़े दिन अपना प्रभाव दिखाकर समाप्त हो गया था। अंग्रेजों के शासन में, कुछ दिन तक जातीय जुनून शांत हो गया था। यही नहीं, 1857 के संघर्ष में हिन्दू और मुस्लिम कंधे-से-कंधा मिलाकर अंग्रेजों से लड़े थे और अपनी राजनीतिक स्वाधीनता के लिए पहला संघर्ष किया था।

इसके बाद भी, हिन्दू तथा मुस्लिम किसानों ने मिलकर अंग्रेजी-सरकार तथा उसके पाले हुए जमींदारों के खिलाफ अनेक बार संघर्ष किये थे, लेकिन चतुर अंग्रेज कौम ने न केवल हिन्दू तथा मुस्लिम एकता को ही तोड़ा, वरन् उसने हिन्दुओं के जातीय अन्तर को भी पलीता लगाया। फलतः भारत के सवर्णों का, विशेषतः ब्राह्मण समाज का, जातीय श्रेष्ठता का गौरव जोश में आ गया। छुआ-छूत की भावना पनपने लगी, अछूत मानी जाने वाली जातियों का मंदिर-प्रवेश रोक दिया गया, सामाजिक एकता भंग करा दी गई, हरिजन तथा अन्य पिछड़ी जातियों को विवश किया गया कि वे सवर्णों की तरह सामाजिक रीति-रिवाजों का निर्वाह नहीं करेंगी, उनको कुओं से पानी भरने तक का अधिकार नहीं दिया गया। अनेक स्थानों पर तो वे उन गंदे तालाबों का पानी पीने के लिए विवश किये गये, जिनमें पशु पानी पीते थे। उनके जीविकोपार्जन के अधिकांश स्त्रोत बंद कर दिये गये। ये लोग देहाती क्षेत्रों में तो मेहनत-मजदूरी करके पेट पालने लगे। अनेक परिवार तो आधा ही पेट भर कर जीवन बिताने लगे। जिन लोगों ने, जरूरत के समय कर्ज ले लिया, वे कभी कर्ज चुका न सके और उनकी कई पीढ़ियां ब्याज में मेहनत करके खत्म होने लगीं। पूरा हिन्दू-समाज अन्याय और शोषण का अखाड़ा बन गया था। यह कहना अधिक संगत होगा कि राष्ट्रीय आन्दोलनों के दौरान जिस जातीयता के पक्षधर दानव की मौत हो गयी थी, वह फिर से जीवित हो उठा था और उसने फिर से अपना नंगा नाच करना प्रारम्भ कर दिया था।

इसकी प्रतिक्रिया विचारशील तथा समतावादी कतिपय सवर्णों में भी हुई और अछूत कहलाने वाली जातियों के विचारवान लोगों में भी। पहले वर्ग में, राजनीतिक नेताओं में महात्मा गांधी, उनके कतिपय कांग्रेसी अनुयायी चौधरी चरण सिंह और प्रेमचंद जैसे लेखकों की गणना की जा सकती है। दूसरे वर्ग में डॉ. बी. आर. अम्बेडकर जैसे विद्वान् तथा समाजशास्त्रियों की। पहला वर्ग दलित, शोषित और अछूत कही जाने वाली जातियों के हितों की रक्षा के लिए सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक स्तर पर सक्रिय अवश्य था, पर वह इस प्रश्न पर किसी ठोस आन्दोलन को जन्म न दे सका। यह काम किया डॉ. अम्बेडकर ने।

आपने सबसे पहले 'महाद्' नामक स्थान पर दलितों के आत्म-सम्मान को जगाने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किया। इसके बाद 20 जुलाई 1924 को 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' को फिर से सक्रिय किया। फलतः उनके अधिकारों की सुरक्षा के लिए प्रस्ताव पास किये—1. दलित वर्गों में शिक्षा का प्रसार-प्रचार किया जाए और उनके लिए छात्रावासों की स्थापना की जाए, 2. दलित वर्गों के लिए वाचनालय,

समाज-केन्द्र और विद्या-केन्द्रों की स्थापना की जाए, 3. औद्योगिक तथा कृषि-विद्यालयों की स्थापना करके दलित वर्गों की आर्थिक स्थिति को सुधारा जाए। दलित वर्ग की विभिन्न कठिनाइयों का प्रतिनिधित्व किया जाना अपनी योजना का अंग बनाकर आपने उसको पूरा करने वाले प्रस्तावों को मूर्त रूप देने के लिए, महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले के 'मानवण' नामक गांव में बम्बई प्रांतीय अस्पृश्यता परिषद् का पहला अधिवेशन आयोजित किया। आपने स्पष्ट रूप से, लोगों को बताया कि अछूतोद्धार का जो कार्य सवर्ण लोगों के हाथों में था, उसको पूरी ईमानदारी के साथ नहीं चलाया गया। डॉ. साहब के इस कथन में, सत्य का अंश वर्तमान था। फलतः वह सही माने में अछूतों के नेता बन कर उभरे। आपने, सन् 1927 में, महाद के चाबदार तालाब से, अछूतों को पानी लेने का आन्दोलन चलाया। सवर्ण लोगों ने इसका विरोध किया, विशेषतः वहां का ब्राह्मण-समाज दलितों को यह अधिकार देना नहीं चाहता था। डॉ. साहब को, अन्ततः विजय मिली और ब्राह्मण-समाज का विरोध मिट्टी में मिल गया।

डॉ. अम्बेडकर ने नगर-परिषद् तथा विधान-सभा के सदस्य के रूप में दलित वर्ग के हितों की आवाजें उठाईं और वयस्क मताधिकार का प्रश्न भी उठाया। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था तथा राजनीतिक लोकतंत्र के प्रति उनमें अविश्वास की भावना पैदा होती गई। इससे पूर्व, अपने आन्दोलन की सफलता पर, युगों-युगों से शोषित और उपेक्षित दलित वर्ग ने मनुस्मृति की होली जलाकर ब्राह्मणवादी-समाज को खुलकर नकार दिया था। इसी अस्वीकृति की गूंज, सन् 1928 में उस समय सुनाई दी, जब डॉ. अम्बेडकर ने, साइमन कमीशन के सामने, अल्पसंख्यक दलितों के लिए चुनावों तथा सरकारी सेवाओं में आरक्षण की मांग पेश की। इसी का परिणाम कम्यूनल अवार्ड हुआ। यथार्थ में, डॉ. अम्बेडकर ने, भारत के दलित तथा अछूत कहे जाने वाले भाइयों की सर्वाधिक सेवा की।

भारत के सवर्णों, विशेषतः ब्रह्मा के मानस-पुत्र कहे जाने वाले ब्राह्मण वर्ग ने, दलितों तथा अछूतों की इस जागृति को भी धूल में मिलाने की ठान ली। जब नासिक के 'कालाराम' मंदिर में, दलितों ने डॉ. अम्बेडकर के नेतृत्व में, प्रवेश करने का प्रयास किया था, तब उनको बलपूर्वक रोक दिया गया। चौधरी साहब, इस घटना पर अन्तर्मन से दुःखी हुए। उनका मन कहने लगा कि जब अरबों तथा तुर्कों ने और बाद में औरंगजेब ने अनेक मंदिर तुड़वा दिये, मंदिरों में गायों की हत्याएं कराईं, सोमनाथ, बनारस, अयोध्या और मथुरा के मंदिरों को ध्वस्त कर दिया था, तब वे अपवित्र नहीं हुए थे, फिर अपने ही लोगों के

प्रवेश से अपवित्र कैसे हो जाते? वह अनुभव करने लगे कि यथातथ्यवादी ब्राह्मण-समाज और उस वर्ग के प्रतिनिधियों का कांग्रेस पर बढ़ता प्रभाव, अछूतों के उद्धार के माध्यम से, भारत में होने वाली सामाजिक सुधार की प्रक्रिया को रोक देना चाहता था। चौधरी साहब अनुशासन तथा व्यवस्था में आस्था रखते थे। अतः आपने अछूतोद्धार के प्रश्न पर कोई आन्दोलन तो नहीं चलाया, पर आपने प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के सामने एक ऐसा प्रस्ताव अवश्य रखा था, यदि वह स्वीकार कर लिया गया होता तो तो बिना किसी विरोध एवं घृणा के समाज में परिवर्तन आ जाता और आज न आरक्षण की स्थिति पैदा होती, न अन्तर्जातीय वैमनस्य पैदा होता और न मंडल-आयोग के निष्कर्षों पर होने वाले युवकों की मृत्यु होती। खेद है कि हमारे देश में, सदैव से धर्म, जाति और नेता को देश से ऊपर माना जाता रहा है। चौधरी साहब ने, अपने लेखों, पत्रों और कार्यों से इस सिद्धांत का सदैव विरोध किया है। यथास्थान इस सम्बंध में तथ्य दिये गये हैं।

डॉ. अम्बेडकर ने जब यह जान लिया कि इस देश का ब्राह्मण-समाज सहज एवं स्वाभाविक तरीके से होने वाले सामाजिक परिवर्तन के विरोध पर आमादा है, तो आपने भी दलितों के उद्धार-हेतु कमर कस ली। 12 नवम्बर 1930 को इंग्लैंड के प्रधानमंत्री रेमजे मैक्डानल्ड की अध्यक्षता में प्रथम राउण्ड-टेबल-कान्फ्रेंस का आयोजन हुआ। इसमें दलितों के प्रतिनिधि के रूप में, डॉ. अम्बेडकर को आमंत्रित किया गया। कांग्रेसी-नेतृत्व अपने अतिरिक्त, किसी अन्य को दलितों का प्रतिनिधि नहीं मानता था। अतः कांग्रेस ने, इस कान्फ्रेंस का बहिष्कार किया। चौधरी साहब, एक लम्बे समय तक कांग्रेसी थे और गांधीवादी तो हमेशा रहे, पर आपने अनेक बार स्वीकार किया कि कांग्रेस ने, यह निर्णय कांग्रेस की ब्राह्मणवादी लॉबी के प्रभाव स्वरूप लिया था। उसका यह निर्णय न तो लोकतांत्रिक था और न भारत की सांस्कृतिक एकता का पक्षधर।

डॉ. अम्बेडकर ने प्रथम गोलमेज सम्मेलन में दलितों के पक्ष में सबल तर्क दिये, अंग्रेजों को उनकी सेवाओं का स्मरण दिलाया और शासन पर जोर डाला कि वह दलितों की समस्याओं के विषय में गम्भीरता के साथ विचार करे। आपके इस प्रयास से, कांग्रेस-क्षेत्र में हलचल मच गयी। गांधीजी दलितों तथा अछूतों को हिन्दू-समाज का अभिन्न अंग मानते थे और उनके पृथक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत में आस्था नहीं रखते थे। फलतः वह सन् 1931 की द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेंस में शामिल हुए। वहां आपने डॉ. अम्बेडकर के विचारों का विरोध किया। भारत लौटकर, आपने अछूतोद्धार का आन्दोलन चलाया। इस प्रकार, अंग्रेजों की

हिन्दू-समाज को बांटने की योजना तो विफल हो गयी, पर यथार्थ में अछूतों के सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न भी गंभीर रूप नहीं ले पाया।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री की 20 अगस्त 1932 की घोषणा ने, भारत के दलितों के पृथक प्रतिनिधित्व और निर्वाचन-क्षेत्रों में खड़े होने के अधिकार को मान्यता प्रदान कर दी और गांधीजी को, भारत लौटते ही, बन्दी बनाकर यरवदा जेल में डाल दिया। गांधीजी ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री की घोषणा के सम्बन्ध में वायसराय को विरोध पत्र लिखा और यरवदा जेल में आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। कांग्रेस के लिए गांधीजी का जीवन प्राथमिकता थी और डॉ. अम्बेडकर के लिए दलितों का सामाजिक एवं आर्थिक उत्थान प्रमुख प्रश्न था। दोनों ही, अपने-अपने मतों पर अडिग बने रहे। इससे देश के राजनीतिक जगत् में बेचैनी पैदा होने लगी। फलतः पं. मदनमोहन मालवीय एवं राजगोपालाचारी ने एक फार्मूला तैयार किया। इसके अनुसार गांधीजी को आरक्षण के सिद्धांत को स्वीकार कर लेना था। डॉ. अम्बेडकर को पृथकता की बात छोड़ देनी थी। फलतः डॉ. अम्बेडकर और गांधीजी के बीच जो समझौता हुआ, वह 'पूना फैक्ट' के नाम से जाना गया। भारत के दलित वर्ग की यह ऐतिहासिक विजय थी।

इसी 'पूना पैक्ट' की भावना ने भारत के संविधान को प्रभावित किया था। इससे पूर्व, 1937 की विधान-सभाओं के चुनावों में भी इस समझौते का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ा। इसका प्रभाव यह हुआ कि अस्पृश्यता को दण्डनीय अपराध मान लिया गया, लेकिन मंदिर-प्रवेश अथवा स्कूलों तथा कॉलेजों में सवर्णों के साथ बैठने से विशेष आर्थिक एवं सामाजिक लाभ की संभावना नहीं थी और न अपेक्षित सामाजिक उत्कर्ष की। यही कारण है कि आधी शताब्दी से अधिक व्यतीत हो गई, आज तक उनका सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उत्कर्ष अपेक्षित है। चौधरी साहब का रास्ता दूसरा था। वह चाहते थे कि आई. ए. एस. तथा अन्य प्रतियोगिताओं में सफल प्रत्याशियों के लिए, अस्पृश्य मानी जाने वाली जातियों की लड़कियों से विवाह अनिवार्य कर दिया जाए। यदि उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया होता तो हजारों अस्पृश्य कन्याओं ने शिक्षित, सम्पन्न और सांस्कृतिक घरों में पहुंच कर, सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तीव्र बना दिया होता। चौधरी साहब अन्तर्जातीय विवाह के पक्षधर थे और इसको वह जातीय अन्तर एवं विद्वेष को समाप्त करने का रामबाण मानते थे। उन्होंने अपनी कन्याओं का अन्तर्जातीय विवाह किया था। लेकिन चौधरी साहब का प्रस्ताव और कार्य, कांग्रेस की ब्राह्मण-लॉबी को पसंद नहीं था। इसका एक विशेष कारण यह था कि भारत में प्रारम्भ से ही ब्राह्मण वर्ग धार्मिक आडम्बर और ढोंग की

चादर ओढ़ कर सत्ता पर आसीन रहा है। जहां राजसत्ता हाथ न लगी, वहां उसने पुरोहित अथवा मंत्री बनकर शासन किया है। यदि यह स्थान भी हाथ न लगे, तो उसने आश्रम बनाये, उनमें अपार सम्पत्ति एकत्र की, हजारों गायें दान में लीं, दलितों को दास बनाया, उनके श्रम का शोषण किया, धर्म के डंडे से शासन किया, अपनी चरित्रहीनता को धर्म का रूप दिया अथवा वरदान बताया, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, महान् क्रांतिकारी युगदृष्टा श्रीकृष्ण और राजा दक्ष के यज्ञ में तीनों देवों और पुरोहितों को नीचा दिखाने वाले शिव को, मंदिरों में बिठाकर भोलीभाली धर्मप्राण जनता का धार्मिक एवं शारीरिक शोषण करके असीम सुखों का भोग किया। उनके अनुयायी, गांधीजी के शिष्य भी, चौधरी साहब द्वारा प्रस्तावित सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को स्वीकार करने में असमर्थ थे। इस वर्ग ने, यहां तक प्रयास किया कि चौधरी साहब को राजनीतिक क्षेत्र में प्रभावहीन तथा अप्रासंगिक बना दिया जाए, पर वह अपनी राजनीतिक ईमानदारी, चारित्रिक गरिमा, लोकहितैषी धारणा और समतावादी दृष्टिकोण के बल पर विरोधियों को चित्त करने में सफल होते रहे। लेकिन 1967 की संविद सरकार में, उनका गठबंधन कुछ ऐसे दलों एवं व्यक्तियों के साथ हुआ, जिनकी प्रतिबद्धता दोहरी थी। चौधरी साहब के सामने धर्म वैयक्तिक आचरण का विषय था और उनके सामने सत्ता के आसन पर पहुंचने का केवल माध्यम। मूलतः दोनों की प्राथमिकताएं एवं आस्थाएं भिन्न थीं। चौधरी साहब का किसान, मजदूर और अनुसूचित एवं जनजातीय राजनीतिक आधार था और उनके जनाधार की प्रगतिशील मानसिकता, परम्परावादी तथा प्रतिक्रियावादी ताकतों को, अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा के मार्ग का सबसे बड़ा अवरोध प्रतीत होती थीं। अस्तु, देश के पूंजीपतियों के साथ गठबंधन करके उनको, राजनीतिक हार के तट तक पहुंचा दिया गया था।

चौधरी साहब मार्क्सवादी नहीं थे, लेकिन मार्क्सवादी विचारक और रूसी क्रांति के जनक लेनिन की एक बात को महत्व दिया करते थे। लेनिन की मान्यता थी कि क्रांति होती है, लेकिन उसके बाद प्रतिक्रांति भी हो सकती है। उनको ज्ञात था कि सन् 1977 में कांग्रेसी अधिनायकतावाद के फलस्वरूप होने वाली कांग्रेसविरोधी क्रांति के बाद प्रतिक्रांति हो सकती है। लेकिन इसको रोकने के लिए, राजनीतिक तथा सामाजिक स्तर पर गम्भीर प्रयास नहीं किये गये। फलतः लोकतंत्र की स्थापना, सामाजिक एकता और शोषित-उपेक्षित वर्ग के उद्धार का स्वप्न, अधूरा रह गया। इसी कसक ने, चौधरी साहब को, बेहद पीड़ित किया था। उन्होंने पहली बार, उत्तर-प्रदेश के मुख्यमंत्री बनते समय जो प्रयोग किये थे, उनको वह केन्द्र में भी करने की उत्कट अभिलाषा रखते थे, किन्तु जनता

पार्टी के नेतृत्व पुराने सिंडीकेटी और उद्योगपतियों के पक्षधर नेता के हाथों में चले जाने के कारण नहीं कर पाये। कांग्रेस और जनता पार्टी के समाजवादी चेतना वाले नेताओं ने, अपने-अपने दलों के परम्परापोषक तथा पूंजीपति समर्थक नेताओं के चरित्र को समझने में भूल की, उनकी निष्ठा राजनीतिक तथा सामाजिक क्रांति में न थी, वरन् अपने हितों की रक्षा में अधिक थी। यही कारण है कि जयप्रकाश नारायण और चौधरी चरणसिंह की सामाजिक-राजनीतिक क्रांति अपूर्ण रह गयी। अपने शेष जीवन में, चौधरी साहब ने, इस विफलता पर अनेक बार आंसू बहाये। मैंने, उनको देश के उन गरीबों की संवेदना में आंसू बहाते देखा है, जिनको न तो रहने को मकान मिला, न भरपेट भोजन और यहां तक कि पीने के लिए स्वच्छ पानी भी नहीं मिला है।

देश की गरीबी, भुखमरी, बेकारी तथा अनेक विषमताओं का कारण वह जातिवादिता तथा सत्तालोलुपता को मानते थे। उनके सामने, चोटी के कई राजनीतिक नेताओं का चरित्र स्पष्ट था, जो बात देशभक्ति, भारतीय संस्कृति, उच्चजीवन, और आर्थिक-सामाजिक समता की करते थे, किन्तु आचरण हमेशा अपने घोषित सिद्धांतों के विपरीत करते थे और अपने राजनीतिक प्रतिद्वंदियों पर जातिवादिता, प्रतिक्रियावादिता और संकीर्णता के आरोप लगाकर उनको मार्ग से हटा दिया करते थे। चौधरी साहब को आज के इन सत्तालोलुप नेताओं और अतीत के ढोंगी पुरोहितों में कोई अन्तर नजर नहीं आता था। दोनों का मार्ग, येन-केन प्रकारेण सत्ता में बने रहना मात्र था। यही मनोवृत्ति देश के आदमी की, आर्थिक विषमता और सामाजिक अस्पृश्यता का मुख्य कारण थी। हमारे अधिकांश नेता, देश की इस विषम स्थिति का यथार्थ समाधान खोजने की अपेक्षा, अपनी स्थिति की दृढ़ता और लम्बे समय तक सत्ता में बने रहने में अधिक विश्वास रखते थे। चौधरी साहब ने, नेताओं की इस मानसिक दुर्बलता के अनेक प्रमाण एकत्र कर रखे थे और इसी ने उनको उत्तर-प्रदेश तथा केन्द्र में, नेताओं को चुनौतियां देने के लिए अनुप्रेरित किया था। इसका एक विशेष कारण यह था कि वह निर्धन जनता के अभिन्न अंग होने के कारण, शहरी तथा ग्रामीण गरीबी को दूर करने के लिए कटिबद्ध थे। यही उनके राजनीतिक जीवन की साधना थी। वह भीतर और बाहर से देशभक्त, गरीबी उन्मूलन के साथ प्रतिबद्ध, जातीयता के अभिशाप को मिटाने के लिए कटिबद्ध और ढोंग तथा राजनीतिक आडम्बर को बेनकाब करने के लिए कमर कस कर तैयार थे।

विडम्बना यह है कि राष्ट्र एवं समाज के हितों के साथ प्रतिबद्ध ऐसे व्यक्ति को, राजनीति में अप्रासंगिक बनाने के लिए एक वर्ग ने प्रतिक्रियावादी कहा,

दूसरे ने जातीय नेता के नाम से पुकारकर उनके राष्ट्रीय कद को छोटा करने का प्रयास किया और एक तीसरे वर्ग ने कुलक-वर्ग का समर्थक बताया। समस्त आरोपों का उद्देश्य केवल यही था कि सत्ता पर गरीब किसानों तथा श्रमिकों का अधिकार न होने पाये।

चौधरी साहब यह भी जानते थे कि उनको राजनीतिक जीवन में असफल बनाने के लिए ऐसे आरोपों का लगाया जाना आश्चर्य की बात न थी। इस देश में, पहले से ही ऐसा होता आया है। महान् ज्ञानी तथा स्वयं को ब्रह्मा का मानस-पुत्र मानने वाले वशिष्ठ न तो अगस्त्य की महत्ता स्वीकार करते हैं, न गायत्री-मंत्र के रचयिता विश्वामित्र की और न शुनःशेष की। ऐसा वह इसलिए ही करते हैं कि उनके क्षेत्र में कोई दूसरा प्रवेश न कर पाये अर्थात् कोई दूसरा उनका प्रतिद्वंद्वी बनकर न उभर सके। इस उद्देश्य के लिए वह राजाओं को, धर्म की आढ़ में, लड़ाते भी हैं और नर-बलि देने वाले यज्ञों का प्रवर्तन भी कराते हैं। यह कहा जाए तो अप्रासंगिक न होगा कि अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए वे लोग धर्म के नाम पर जघन्य अपराध तक करते थे। 'शम्बूक' का वध कराना और 'शुनःशेष' की यज्ञ में बलि देने की योजना दो बहुत बड़े प्रमाण हैं। यही काम, देशभक्ति और लोक-हित के नारे के पीछे हमारे कांग्रेसी नेता कर रहे थे। पंडित नेहरु ने समाजवादी-समाज स्थापना का और श्रीमती इंदिरा गांधी ने गरीबी हटाओ के नारे लगाये और लगभग चार दशक तक, सत्ता के उंचे आसन पर विराजमान रहने पर न तो आज तक गरीबी और न जातिगत भेद-भाव समाप्त हुआ, वरन् उसमें विकास के चिह्न दीख पड़ने लगे थे। यह स्थिति, आर्य समाज की मानसिकता वाले चौधरी साहब को अधिक परेशान करती थी।

पंडित जवाहरलाल नेहरु, सोवियत रूस के समाजवादी आर्थिक विकास से, अत्यधिक प्रभावित थे। वह, विशेषतः वहां की सामूहिक कृषि-व्यवस्था पर मुग्ध थे। अतः आपने, दोनों देशों की परम्परा तथा परिवेश के अन्तर पर ध्यान दिए बिना, भारत में सहकारी खेती के सिद्धांत को लागू करने की योजना बनाई। फलतः आपके द्वारा सहकारी खेती के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। किसी कांग्रेसी सदस्य में यह साहस न हुआ कि वह कृषि में सहकारिता के सिद्धान्त से असहमत होते हुए भी, नेहरू जी के मत का विरोध करता। इसका कारण सिर्फ यह था कि कांग्रेसी-वर्ग के लिए, नेता प्रायः राष्ट्र से उपर रहा है। अतः यह मानते हुए कि सहकारिता का सिद्धांत भारतीय परंपरा के अनुकूल नहीं है, लोग चुप रहे। उस समय, केवल एक व्यक्ति ऐसा था, जिसने पंडितजी के मत के विरोध में, अपनी बात वह, तर्क तथा प्रमाण देते हुए कही कि सहकारी खेती

से, भारत की अर्थ-व्यवस्था डांवाडोल हो जायगी, क्योंकि खाद्यान्नों का उत्पादन घट जायेगा।

उसी दिन से, चौधरी साहब ने जान लिया था कि हमारे देश में नेता की चाटुकारिता करने वालों का जमघट है और देश के हित में, नेता की सीमाओं की ओर संकेत करने वालों की कमी है। उसी दिन से, चौधरी साहब ने, नेताओं की सीमाओं, कथन तथा कर्म के उनके विरोधाभासों और उनकी राजनीतिक तथा प्रशासनिक विसंगतियों पर दृष्टि रखना प्रारम्भ कर दिया।

भारतीय नेताओं की अलोकतांत्रिक एवं व्यक्तिवादी मनोवृत्ति के विरुद्ध, चौधरी चरण सिंह की अन्तरात्मा उसी प्रकार विद्रोही हो उठी, जिस तरह वह आगरा कालिज, आगरा में कानून और इतिहास का अध्ययन करते समय, सवर्ण हिन्दुओं की अछूत मानी जाने वाली जातियों की विरोधी मनोवृत्ति को, चुनौती देने के उद्देश्य से, विद्रोही हो उठी थी। आगरा कालिज के छात्रावास में, सवर्ण हिन्दुओं ने, उनके जातीय एकता संबंधी विचारों का विरोध करते हुए प्रश्न किया था—क्या तुम महतर का छूआ हुआ खाना खा सकते हो? उनका उत्तर था, क्या वह इंसान नहीं है। यदि वह साफ-सुथरा है तो ब्राह्मण और महतर में क्या अन्तर है? सवर्णों का विरोध, छात्र चरण सिंह को अपनी मान्यता से डिगा न सका था। इस वैचारिक दृढ़ता का कारण था, उनके बचपन का निर्माण करने वाला परिवेश, जिसमें आर्य-समाज के प्रभाव के कारण जातिय विद्वेष नहीं था। दूसरे सर्वखाप पंचायत के प्रभाव से जातीय एकता का वातावरण बना था। सवर्ण किसान, विशेषतः जाट किसान और हरिजन आदि जातियां समान रूप से, मिलकर काम करती थीं। आर्य समाजी-शिक्षक के स्कूल में, सभी जातियों के बालक एक साथ बैठते थे। जातिगत भेदभाव प्रायः नहीं होता था। गवाण्ड-पंचायतों में, सभी जाति के पंच होते थे और उनके साथ भेद-भाव नहीं होता था। ग्रामीण जीवन में, शहरी जीवन की अपेक्षा जातीय एकता का वातावरण अधिक जीवन्त था। इसका अपवाद, प्रायः वहीं मिलता था, जहां ब्राह्मण पुरोहितों का वर्चस्व हुआ करता है। चौधरी साहब का बचपन ग्रामीण वातावरण में व्यतीत हुआ था। यही कारण है कि आपने आगरा कालिज के छात्रावास में, सवर्णों का विरोध करते हुए, हरिजन द्वारा बनाये-लाये गए भोजन को खाया और गर्व के साथ जातीय एकता के पक्ष में तर्क दिए तथा कार्य किया।

बचपन और छात्र-जीवन में विकसित जातीय एकता की भावना उनके राजनीतिक जीवन में भी यथावत् विद्यमान रही।

9

राजनीतिज्ञों द्वारा लगाये गये जातिवादी आरोप और चौधरी चरण सिंह की प्रतिक्रिया

पीछे एक जगह लिखा जा चुका है कि वैदिक काल से लेकर, गत कुछ वर्षों तक, हमारे देश के शीर्षस्थ धार्मिक ऋषियों, पुरोहितों, पंडे-पुजारियों एवं आधुनिक युग के राजनेताओं में एक प्रवृत्ति विद्यमान रही है कि उन्होंने न तो किसी को अपने समकक्ष आने दिया है, न अपने सैद्धांतिक विरोधी को सहन किया है और न अपने विरोधी की विचारगत महानता को समझने का प्रयास किया है। इसके विपरीत, अपने विरोधी को असुर, दानव, शूद्र और जातिवादी कहकर, देश की सांस्कृतिक एवं राजनीतिक धारा से अलग हटाने का प्रयास किया है। अपने संकीर्ण स्वार्थों, आर्थिक हितों और राजनीतिक सत्ता को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से, अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं तथा ऐन्द्रिक असंगतियों को धर्म की चादर से ढकने का प्रयास किया है। (इसके लिए मंदिरों में देवदासियों के रूप में युवतियों को रखना, देवता के प्रतिनिधि बनकर उनको भोगना, अपने व्यभिचार को दैवी-इच्छा बताना आदि इसके प्रमाण हैं। सोमनाथ के मंदिर से लेकर साधारण मठ तक की घटनाएं इसकी साक्षी हैं।) यही स्थिति, देश के राजनीतिक इतिहास में भी मिलती है। ब्राह्मण पुरोहित के अंध-विश्वासों तथा धार्मिक मिथ्याडम्बर को चुनौती देने वाले बौद्धों का क्रूरतापूर्वक संहार ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र ने किया और बाद के तथाकथित धार्मिकों ने 'बौद्धाजैनाचः शूद्रा' कहकर उनको अस्पृश्य और शूद्र घोषित कर दिया था। यह बात तो गुप्तकाल के पराभव के बाद की है। आठवीं सदी के प्रारम्भ में, सिंध के राजा की लोक-विरोधी नीति का विरोध करने वाली जनता को पशुओं की भांति आचरण कराने वाले दाहिर ब्राह्मण राजा थे। इसी परम्परा का पालन, जाने-अनजाने में, हमारे शीर्षस्थ नेताओं द्वारा किया गया था। चौधरी चरण सिंह इस बात को जानते थे। उन्होंने नेताओं के आचरणों से यह

वात जान ली थी कि जाति-पांति का विरोध उनके लिए एक बौद्धिक व्यायाम तथा दिखावा मात्र है, यथार्थ में वे उसको समाप्त करने के लिए गम्भीर तथा कटिबद्ध नहीं हैं। उत्तर-प्रदेश के कांग्रेसी नेताओं तथा स्वाधीनता आगमन की पूर्व बेला में केन्द्रीय कांग्रेसी नेताओं की नीतियों और कार्यों का, गहराई के साथ, अध्ययन करने के बाद, चौधरी साहब इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे।

चौधरी चरण सिंह यह जान गये थे कि एक समय था जब गाधार से लेकर पंचनद अर्थात् पंजाब तक का क्षेत्र हिन्दू-बहुल था, किन्तु ब्राह्मणों की जातीय श्रेष्ठता की भावना, साहूकारों के आर्थिक शोषण और सामंतों की विलासिता के कारण, वह मुस्लिम बहुल हो गया। साहूकारों ने गरीब हिन्दुओं का शोषण किया और ब्राह्मणों ने घृणा से देखा और राजाओं ने सीमा पार से आने वाले खतरे को अनदेखा किया। अतः अनेक परिश्रमी तथा स्वाभिमानी लोग इस्लाम को स्वीकार कर बैठे। किसी समय बोलन दर्रे के पास का कींकड़ क्षेत्र हिन्दू जाट-बहुत था और वह दो शताब्दियों तक भारत पर अरबों के आक्रमणों को रोकता रहा।[1] पर तत्कालीन भारत के विलासी राजाओं द्वारा और उनकी प्रशस्ति गायक पुरोहितों ने उस संकट को नहीं समझा और अन्ततः सबल आक्रान्ता अरबों ने उनको इस्लाम में मिला लिया। यही नहीं, सन् 1881 तक पंजाब का क्षेत्र भी हिन्दू-बहुल था, लेकिन आधी सदी के समय में ही वह मुस्लिम बहुल हो गया। कारण सिर्फ यह है कि इस्लाम ने उनको गले लगाया, सवर्ण हिन्दुओं ने उनको दूर हटाया, उनको दुतकारा और उनका बहुमुखी शोषण किया। 1881 तथा 1931 की जनगणनाा इसका प्रमाण है। 1881 की जनगणना के अनुसार हिन्दू वहां 43.8 प्रतिशत थे, लेकिन 1931 में 30.2 प्रतिशत रह गये। वहां की अधिकांश परिश्रम-प्रिय तथा स्वाभिमानी जातियां सवर्णों की घृणा और भेदभाव-भरी नीति के कारण, दूसरे धर्मों की ओर चली गईं। 1881 में मुस्लिम जनसंख्या 40 प्रतिशत थी, वह 1931 में 52.4 प्रतिशत हो गयी। यही हाल बंगाल का भी हुआ। ब्राह्मण-समाज की वर्गीय श्रेष्ठता-जन्य नीति के कारण, सन् 1881 में वहां हिन्दू जनसंख्या जो मुस्लिम जनसंख्या के बराबर थी, 1931 में घटकर अल्पमत में आ गयी और मुस्लिम जनसंख्या 54.4 प्रतिशत हो गयी। इसका फल यह हुआ कि अंग्रेजों के प्रोत्साहन पर, मुस्लिम जनता ने, आवाज मिस्टर जिन्ना की सुनी, महात्मा-गांधी की नहीं। भारत का उत्तर और पूर्व का क्षेत्र साम्प्रदायिक जुनून का शिकार हो गया। लाखों

1. डब्ल्यू. आर. रिसी, रोमाज, पृ. 41-42
आर. सी. मजूमदार, हिस्ट्री आफ द कल्चर आफ द पीपल आफ इंडिया; क्लासीकल एज, पृ. 42

बेगुनाहों का खून बहा, अनेक को मिली अविस्मरणीय पीड़ा, कटु अनुभूतियां और अदूरदर्शी राजनीतिज्ञों को मिली गद्दियां। बड़े नेता भी साम्प्रदायिक वैमनस्य के कारण होने वाले अमानवीय कृत्यों की संभावनाओं को समझने में विफल रहे। जो कार्य कभी अहमदशाह अब्दाली के सेनानायक जहान खां तथा दिल्ली के वजीर नजीबुद्दौला ने, अब्दाली के हुक्म से, दिल्ली से लेकर आगरा तक के क्षेत्र में किये थे, उससे भी भयंकर कार्य नोआखाली तथा पश्चिमी-पंजाब में हुए। हजारों निर्दोष बहनें बर्बरता की शिकार हुईं। भारत और पाकिस्तान के नेता आजादी का जश्न मना रहे थे और जनता खून के आंसू पी रही थी।

चौधरी साहब ने, यह भी जान लिया था कि इस बरबादी, संहार, अपमान और अमानवीय लीला को रोकने के लिए केवल आर्थिक आधार पर, हिन्दू तथा मुस्लिम किसानों को, एक मंच पर लाने का कार्य यूनियनिस्ट पार्टी के झण्डे तले फजल-ए-हुसैन, चौधरी छोटूराम, सिकन्दर हयात खां, मलिक खिज्र हयात खां और शाहबुद्दीन ने किया था। साहूकारों तथा उच्च शिक्षित लोगों की प्रतिनिधि कांग्रेस और साम्प्रदायिक मुस्लिम लीग को, किसान समर्थक इन नेताओं ने आर्थिक आधार पर चुनौती दी, फलतः आम चुनावों में कांग्रेस के बीस तथा लीग को दो स्थान मिले। शेष यूनयनिस्ट पार्टी को। इसने सिद्ध कर दिया था कि धर्म, जाति और सम्प्रदाय की अपेक्षा आर्थिक समृद्धि की संभावना में जनता को जोड़ने की ताकत होती है। लेकिन कांग्रेस के नेताओं ने विभाजन के सिद्धांत को स्वीकार करके, दोनों जातियों की एकता को, भंग होने के लिए विवश कर दिया। एक पंजाब के दो पंजाब हो गये। आधे की शासक कांग्रेस बन गई और आधे की लीग, लेकिन खून बहा जनता का। नेता शासक बन गये और जनता लुट गयी। जातीय वैमनस्य का यह परिणाम हुआ। नवजात भारतीय लोकतंत्र की यह सर्वाधिक भयंकर त्रासदी थी। कांग्रेस के बड़े नेताओं ने जातीय भेदभाव के इस भयंकर परिणाम को समझा तो था, किन्तु वह उनके बौद्धिक व्यायाम का अथवा सैद्धांतिक आख्यान का आधार बनकर रह गया। अन्यथा उन्होंने माउण्ट-बेटन के प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया होता। दूसरी ओर, चौधरी चरण सिंह के सामने इसके भावी दुष्परिणाम सुस्पष्ट थे। वह, भली प्रकार देख रहे थे कि यदि हरिजनों, जनजातियों, परिगणित लोगों के प्रति सवर्णों की घृणा कम न हुई, तो देश के सामने जातीय विभीषिका का भयंकर दृश्य उपस्थित हो सकता है। यही नहीं, वह यह भी समझ चुके थे कि छोटी तथा अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों का आर्थिक उत्कर्ष नहीं हुआ, तो वह विद्रोही हो सकती हैं और वह बड़ी से बड़ी ताकत को धूल भी चटा सकती हैं। उनके इस चिंतन का परिणाम यह

हुआ कि 22 मई 1954 के दिन, आपने पंडित नेहरु को एक पत्र लिखा। उसमें आपने कहा था–'हमारी समस्त दुर्बलताएं जो आर्थिक तथा भाषाजनित विषमताओं एवं हमारी जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था के कारण हैं, मेरी राय में हमारी राजनीतिक पराधीनता और पतन के लिए उत्तरदायी हैं। हमारी सबसे बड़ी दुर्बलता वर्ण-व्यवस्था है। यह सबसे अधिक भयंकर साबित हुई है। इसी से हमारे देश का विभाजन हुआ। जब उच्च वर्ण के हिन्दू अपने समान धर्मावलम्बियों से समानता और आदर का व्यवहार नहीं कर पाते, तब मुसलमानों के इस भय को उचित मानना पड़ेगा कि अंग्रेजों के चले जाने के बाद उनको हिन्दुओं के विराट बहुमत से सद्व्यवहार और सद्भाव नहीं मिलेगा। अब यह सब अतीत की बातें हैं।

'दुःख तो इतना है कि हमने इस सबसे कुछ नहीं सीखा। जाति की भावना कम होने की अपेक्षा बढ़ती ही गयी। ऐसा प्रजातंत्र की आकांक्षाओं तथा नौकरी और रोजगार पाने के लिए अधिक हो रहा है। इसका प्रकोप सार्वजनिक जीवन की उच्चतम शिराओं तक ही सीमित नहीं, इसका प्रशासकीय सेवाओं पर भी काफी असर पड़ा है। इससे पक्षपात तथा अन्याय को ही प्रश्रय नहीं मिला है, बल्कि व्यक्ति का मस्तिष्क और हृदय संकुचित बन कर दोषारोपण-प्रत्यारोपण, सामाजिक अविश्वास और संदेहों के घेरे में जा फंसता है। सम्प्रति यह राजनीतिक द्वेष का अस्त्र बन गया है।[1]'

देश में फैली जातिवाद की बीमारी को देश के विचारक, दार्शनिक और समाजवाद के साथ प्रतिबद्ध विद्वान् प्रधानमंत्री के सामने लाने के बाद, आपने इसी पत्र में, इस रोग के निदान का रास्ता भी बताया था। उनके शब्द हैं–'वर्तमान दौर में जाति-विरादरी, इंसान की जिंदगी में शादी के समय ही सामने आती है। इसीलिए इस बुराई पर वाकई काबू पाना है तो ऐसे कदम उठाये जायें जो जाति-बिरादरी के सम्बंध को, उसके महत्वपूर्ण सम्बंध के मौके पर, यानी शादी-विवाह के समय तबाह कर दिया जाये। गोया बुराई को उसके मूल स्रोत पर ही निपटाया जाये। आपकी दृष्टि में बुराई को मिटाने का मूल स्रोत है, विवाह का समय। अतः आपने सुझाव दिया–'गजिटेड नौकरियों में केवल ऐसे लोगों को भर्ती करें जो अपनी जाति-बिरादरी के संकुचित दायरे से बाहर आकर विवाह करें।' इसी पत्र में, आपने सुझाव दिया था कि जनप्रतिनिधि तथा केन्द्रीय सेवा में चुने जाने वाले व्यक्ति के लिए अन्तरजातीय विवाह अनिवार्य बना दिया जाए। यदि चौधरी साहब

1. जातिवादी कौन : एक विश्लेषण, पृष्ठ 28 तथा 'धरती पुत्र चौधरी चरण सिंह', (अनिरुद्ध पाण्डेय) पृ. 223

का यह सुझाव मान लिया गया होता और ऐसी व्यवस्था कर दी गयी होती कि प्रत्येक जन-प्रतिनिधि तथा केन्द्रीय सेवा में चुना गया सवर्ण व्यक्ति, हरिजन कन्या से विवाह करे और हरिजन तथा अन्य परिगणित जातियों का युवक सवर्ण कन्या के साथ, तो आज का वातावरण, जातीय विद्वेष से विषाक्त न बनता। आज कहीं त्यागी ब्राह्मण-समाज का उभार सामने आता है, कहीं कोई राजनीतिक दंगल में पिटा नेता अग्रवाल वैश्यों को जाति का नशा पिलाता है, कहीं ब्राह्मण वर्ग, अनेक मुखौटे लगाकर व्यास, परशुराम और वशिष्ठ का नारा देकर जातीय संकीर्णता फैलाता है और कहीं गूजर, जाट तथा राजपूतों को उभारा जाता है। कहीं मनुवादियों का नाम लेकर सवर्णों को कोसा जाता है और कहीं मंदिर तथा मठ के नाम पर, जनता की भावनाओं को उभारा जाता है, कहीं शाही मस्जिदों के इमाम फतवा देकर मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उभारते हैं। यही नहीं, कांग्रेस समेत प्रायः सभी दल जातीय संकीर्णता से मुक्त नहीं दीख पड़ते। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि वे जातीयता के आधार पर, अपने प्रत्याशियों का चयन करते हैं। जिस जाति का जहां बाहुल्य होता है, वहां उसी जाति का प्रत्याशी खड़ा करना उनकी नीति बन गयी है, लेकिन यह बात राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान नहीं थी। उस समय मुस्लिम मतदाता, मुस्लिम लीग के प्रत्याशी को वोट न देकर, कांग्रेस प्रत्याशी को वोट देते थे और अनेक हिन्दू राम-राज परिषद् के प्रत्याशी को मत न देकर कांग्रेस के मुस्लिम प्रत्याशी को मत देते थे। छपरौली (मेरठ) का अधिकांश जाट मतदाता ब्राह्मण प्रत्याशी को और बागपात का मतदाता मुस्लिम प्रत्याशी को मत देता था। इसके दो प्रमाण उपलब्ध हैं, छपरौली तथा बागपत जिला मेरठ के जाट तथा मुस्लिम मतदाताओं ने, जाट प्रत्याशी के मुकाबले में, त्यागी ब्राह्मण आचार्य दीपांकर को दो बार और बागपत के नवाब कोकफ हनीफ को एक बार, जाट तथा ब्राह्मण एवं गूजर मतदाताओं ने विधान-सभा के चुनावों में विजयी बनाया था। इससे एक बात सिद्ध होती है कि आम आदमी जातिवादी संकीर्णता से दूर होता है, उसको संकीर्ण बनाने का काम करते हैं, देश राजनीतिज्ञ। जातिवादी संकीर्णता से मुक्ति की इस परम्परा को आगे बढ़ाया था चौधरी चरण सिंह ने, जन-कांग्रेस, भारतीय-क्रांति-दल और जनता पार्टी के माध्यम से और इसको तोड़ा था, कांग्रेस में शामिल संकीर्ण हृदय ब्राह्मण-नेताओं ने। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्रित्व काल में चौधरी साहब ने, उत्तर-प्रदेश लोक-सेवा-आयोग का अध्यक्ष बनाया था श्री विश्वंभर सिंह नामक एक गूजर जाति के सज्जन को। केन्द्रीय सरकार के ब्राह्मण प्रधानमंत्री ने खादी ग्रामोद्योग का अध्यक्ष बनाया एक ब्राह्मण को। उ॰ प्र॰ के मुख्यमंत्री श्री मुलायम सिंह ने उत्तर-प्रदेश लोक-सेवा आयोग का

सदस्य बनाया एक यादव को। इन दोनों के मुकाबले में, चौधरी साहब का कार्य, लोकतंत्र का समर्थक और जातीय संकीर्णता से मुक्त है।

जातीय संकीर्णता के विष को समाप्त करने के लिए भारत के प्रधानमंत्री को लिखने से पूर्व, चौधरी चरण सिंह उत्तर-प्रदेश के अत्यंत सबल मुख्यमंत्री पं. गोविन्द बल्लभ पंत को भी लिख चुके थे। 29-9-1953 की अपनी टिप्पणी द्वारा पंतजी का ध्यान आकर्षित करते हुए आपने लिखा–'मैं समझता हूं कि सरकारी स्तर पर हमारे सामने खुले दो उपाय हैं। प्रथम तो यह कि हम इस बात की व्यवस्था कर सकते हैं कि केवल वह व्यक्ति ही विधायिका या राजपत्रित सेवाओं में, चाहे वह राज्य की हो या केन्द्र की, प्रविष्ट किया जायेगा, जो एक निश्चित तिथि के बाद, अपनी जाति के बाहर विवाह करे और यदि वह अविवाहित है तो ऐसा करने का प्रस्ताव करे।' (जातिवादी कौन : एक विश्लेषण, पृष्ठ 23)। चौधरी साहब का उद्देश्य किसी को बाध्य करने का नहीं था, पर वह चाहते यह थे कि ऐसी कोई व्यवस्था की जाए कि विधायिका तथा राजकीय सेवाओं में प्रवेश करने वालों को गैर-जाति में विवाह करने की प्रेरणा मिले। आपका दूसरा सुझाव था कि 'कोई शैक्षणिक संस्थान यदि उसका नाम जाति पर है तो उसे मान्यता नहीं दी जानी चाहिए।' चौधरी साहब के इन दोनों सुझावों का अपना महत्व था। जाति के नाम पर, शिक्षा-संस्थानों का जीवित रहना, बच्चों को जातीयता के नशीले इंजेक्शन लगाना जैसा था। फिर भी, पंतजी ने 'इन सुझावों पर कोई उत्साह नहीं दिखाया और तत्कालीन शिक्षामंत्री डॉ. सम्पूर्णानंद जी ने तीव्रता से इसका विरोध किया।' (वही, पृ. 20)।

पंडित नेहरू ने, चौधरी साहब के सुझावों को व्यक्तिगत स्वाधीनता के लिए घातक मानकर अस्वीकार कर दिया था। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि लोकतंत्र में व्यक्ति का स्थान उंचा होता है अथवा राष्ट्र का? व्यक्तिगत आजादी से राष्ट्र को खतरे में नहीं डाला जा सकता। पंडितजी स्वयं जातीय विद्वेष की अग्नि में जलते हुए देश को देख चुके थे। फिर भी कोई ऐसा उपाय करने की दिशा में आगे नहीं बढ़े, जिससे देश को खाने वाला जातीयता का दानव खत्म हो जाता। पंडितजी की उदासीनता का परिणाम यह हुआ कि सरकारी कार्यालय, मंत्रिपरिषद् और व्यावसायिक-संस्थान संकीर्ण जातीयता के अड्डे बन गये, वहां गैर-जाति के योग्यतम व्यक्ति का प्रवेश बन्द हो गया। प्रशासकीय कुशलता, राजनीतिक न्यायप्रियता तथा पक्षपात हीनता की धज्जियां उड़ गईं। सर्वत्र क्षेत्रीयता तथा जाति-विशेष का बोलबाला नजर आने लगा। बात यहां तक बढ़ी कि बड़े नेताओं ने, छोटे नेताओं की स्पष्ट तथा राष्ट्रहित समर्थक बातों

को, अपनी व्यक्तिगत आलोचना मानकर, उनको वैचारिक दंगल में मात देने के लिए, जातिवाद की कीचड़ उछालनी प्रारम्भ कर दी। पंडित नेहरु जैसे विश्व-नागरिकता तथा मानवताके समर्थक तपःपूत, देश के मूर्धन्य नेता भी इस कथन के अपवाद नहीं रहे हैं।

चौधरी चरण सिंह के 6 अक्टूबर 1958 को लिखे पत्र से ज्ञात होता है कि पंडितजी ने, बातचीत के दौरान, चौधरी साहब से कहा था कि 'मेरठ जिले के कांग्रेस के संगठनात्मक मामलों में मेरे द्वारा प्रदर्शित 'जाटपन' को आप पसंद नहीं करते' (जातिवादी कौन, पृष्ठ 15)। इस शब्द का प्रयोग करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि चौधरी चरण सिंह का चिंतन राष्ट्रवादी न होकर जातिवादी था। यहां भी एक प्रश्न पैदा होता कि क्या बड़े-बड़े नेताओं की भूलों की ओर संकेत करना एक अपराध है अथवा जातिवादिता है। नेता कितना भी बड़ा हो, वह राष्ट्र से बड़ा नहीं होता। उसकी किसी भूल की ओर इंगित करना अपराध नहीं होता, वरन् इससे लोकतंत्र की जड़ें मजबूत होती हैं और राष्ट्र का हित होता है। इसके विपरीत, यदि कोई व्यक्ति यह जानते हुए कि बड़े नेता की अमुक नीति, देश के लिए लाभकारी नहीं है, वह डर से चुप लगा जाता है अथवा अपने राजनीतिक भविष्य की चिंता में चाटुकारिता करने लगता है तो उसका यह कार्य, किसी भी प्रकार राष्ट्रहितकारी नहीं माना जा सकता। इस देश का दुर्भाग्य यह है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान ही, कांग्रेस का नेता कांग्रेस संगठन और राष्ट्र से अधिक महत्वपूर्ण मान लिया गया था। फलतः संगठन की आंतरिक लोकतंत्रमूलक स्वाधीनता समाप्त हो गयी थी। महात्मा गांधी भी इसके अपवाद न थे। उन्होंने जिसको चाहा, उसको संगठन का अंग माना और जिससे उनके सैद्धांतिक मतभेद रहे, उनको कांग्रेस छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। लोकमान्य तिलक, सुभाष चन्द्र बोस, जयप्रकाश नारायण, डॉ. राम मनोहर लोहिया, श्री कृष्णदत्त पालीवाल आदि इसके प्रमाण हैं। पार्टी में, आंतरिक अधिनायकतावाद की यह प्रवृत्ति पं. नेहरु को भी विरासत में मिली थी।

मेरठ कांग्रेस के संगठन के संदर्भ में 'जाटपन' के आरोप का उत्तर चौधरी साहब ने निर्भीकता, तर्कपूर्ण ढंग से और समुचित तथ्यों के साथ दिया था। आपने, यह तथ्य देकर सिद्ध कर दिया कि छपरौली-क्षेत्र का बहुमत वाला जाट मतदाता जातीय संकीर्णता से सदैव मुक्त रहा है और वह जाट के मुकाबले में ब्राह्मण कांग्रेसी प्रत्याशी को वोट देता है। पं. खुशीराम शर्मा का उदाहरण मौजूद है। भूमि के साथ जुड़ा होने के कारण, जाट-किसान ईमानदारी तथा देशभक्ति में किसी ब्राह्मण अथवा वैश्य से पीछे तो होता ही नहीं, बल्कि आगे ही होता है

और देश के लिए बलिदान करने में भी आगे रहता है। इसके साथ वह स्पष्टवादी और साहसी भी होता है और अपनी बात निर्भीकतापूर्वक कहता है।

पं. नेहरु और चौधरी साहब में मौलिक अन्तर था। नेहरु जी एक सम्पन्न बैरिस्टर के पुत्र थे, बचपन ऐशोआराम में व्यतीत हुआ था, विदेशों में शिक्षा पाई थी। भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन का उन्हें सम्यक् ज्ञान था। वह, प्रवृत्ति से भावुक और दार्शनिक थे। कवि नहीं थे, पर कवि की कल्पना से सम्पन्न थे। अतः वह विचारक अधिक और व्यावहारिक कम थे। फ्रांस तथा रूस की बोल्शेविक क्रांति से प्रभावित थे। विश्व-इतिहास से अवगत थे और विश्व से साम्राज्यवाद के अन्त के प्रश्न पर व्यस्त होने के कारण भारत की आर्थिक एवं सामाजिक समस्या से जूझने का समय उनके पास न था। वह अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के मार्गों को जानते थे, गरीबी दूर करने के नुस्खे उनके पास न थे। गरीबों के साथ हमदर्दी तो थी, पर अपनी सहानुभूति को अमली जामा पहनाने का रास्ता उनके सामने न था और अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में व्यस्त रहने के कारण, इसको जानने का समय भी उनके पास न था। यही कारण है कि एक सफल लेखक, विचारक और दार्शनिक होने के वावजूद वह असफल प्रशासक बन कर रह गये थे। अस्तु, देश ने कश्मीर तथा भारत-चीन सीमा पर हजारों वर्गमील जमीन भी खोई और कश्मीर की समस्या गले में फंस गई। साथ ही, प्रशासन में भ्रष्टाचार तथा जातीय संकीर्णता भी उभर कर आई। दूसरी ओर, चौधरी साहब गरीब घर में जन्मे, गरीबी में पले तथा पढ़े थे, यही कारण है कि देश की गरीबी, उसके कारण और उसके समाधान के रास्तों से वह पूरी तरह अवगत थे। उनको विश्वविख्यात अर्थशास्त्रियों के सिद्धांतों का ज्ञान भले ही न हो, लेकिन गरीबों के अर्थशास्त्र में वह पारंगत थे। अतः यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि भारत के दो प्रथम प्रधानमंत्रियों की जो कमजोरी थी, वह उनका स्पर्श तक नहीं करती थी। उन दोनों के पास गरीबी दूर करने के मात्र नारे थे, न तो उसके लिए उनके पास कोई ठोस योजना थी और न दृढ़ विश्वास। दूसरी ओर चौधरी साहब के दिमाग में ठोस योजना भी थी और योजना को मूर्त रूप देने का साहस, दृढ़ता और पर्याप्त मात्रा में कौशल भी था। इसका प्रदर्शन, आपने उत्तर-प्रदेश के मंत्री के रूप में, किसानों को अपनी जोत की भूमि का मालिक बनाकर किया। इस कार्य से, छोटी जोत के किसान भी लाभान्वित हुए, खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ा, किसानों की समृद्धि से गांवों, कस्बों तथा शहरों के दुकानदार भी लाभ पा सके। केन्द्र में आकर, आपने कुटीर-उद्योगों के प्रवर्तन की योजना बनाकर, देश की समृद्धि को, जापान के स्तर पर, ले जाने की योजना

की थी। लेकिन, इंदिरा जी की कांग्रेस-सरकार ने, उस चक्र को उल्टा कर दिया और आम आदमी की अपेक्षा उद्योगपति लाभान्वित होने लगे। पैंतीस वर्षों के काल में, देश को मिला भ्रष्टाचार, जातीयता का जहर, घोटाले प्रशासकीय अकुशलता, आतंकवाद और राजनीति का असमाजीकरण। स्वाधीनता की स्वर्ण-जयन्ती के काल में लोक-सभा के चार-दिन, 26, 27, 28 और 29 अगस्त सन् 1997 को होने वाले विशेष अधिवेशन में हुए गणमान नेताओं के भाषणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश आज भी गरीबी, घोटाले, आतंकवाद, कथन तथा कर्म के विरोधाभास, जातीयता के जहर और भ्रष्टाचार का शिकार है। पिछले दिनों में, जितने भी घोटाले चर्चा के विषय बने हैं, उनमें से अधिकांश के साथ, अधिकतर एक वर्ग तथा जाति विशेष के लोगों के नाम ही संलग्न हैं। इससे यह निष्कर्ष तो हरगिज नहीं निकाला जा सकता कि देश की वह जाति विशेष बेईमान है। उस जाति में भी अनेक उच्च कोटि के देशभक्त, शहीद और ईमानदार आदमियों का अभाव कभी न था, और न आज है। लेकिन जिन लोगों का राजनीति और प्रशासन के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है, उनकी न्यायप्रियता, देशभक्ति, प्रशासकीय कौशल, राजनीतिक ईमानदारी और उदात्त मानवीय मूल्यों के सामने प्रश्न-चिह्न अवश्य लगते जा रहे हैं।

श्रीमती इंदिरा गान्धी की हत्या के बाद दिल्ली में हुए दंगों से, यही साबित होता है कि अभी हम लोग जातीय घृणा से भरे हुए हैं और किसी व्यक्ति विशेष के जघन्य अपराध से समूची जाति को दंडित करने के लिए उतावले हो जाते हैं। क्या यह हमारा विवेक है?

देश की स्वाधीनता के साथ, देश में औद्योगिक विकास की संभावना पैदा हुई थी और इसके साथ, यह अनुमान भी होने लगा था कि उद्योगों में काम करने वाला श्रमिक-समाज जाति और धर्म की दीवारों को तोड़कर एक नई संस्कृति को जन्म देगा, जिसमें इंसान का महत्व होगा, धर्म और जाति का नहीं, लेकिन यह आशा भी निराशा में परिणित हो गई।

भारत ही नहीं, दुनिया के अधिकांश देशों में केवल दो वर्ग ही ऐसे मिलते हैं, जिनमें जाति तथा धार्मिक संकीर्णता का जहर बहुत कम पाया जाता है और वे दो वर्ग हैं—किसान और मज़दूर। लेकिन कुछ राजनीतिक दलों को, किसान तथा मजदूर की एकता में, अपने अस्तित्व के लिए खतरा नजर आने लगा था। उनको शंका थी कि इन दोनों वर्गों की एकता का परिणाम वर्ग-संघर्ष हो सकता था, जिससे जाति, धर्म और पूंजी समर्थक राजनीतिक दलों का सफाया हो सकता था। अतः कुछ दलों के राजनीतिक नेताओं ने, देश के गरीबों और मेहनत करने

वाले लोगों का फायदा न देखकर, अपने-अपने दलों का फायदा देखा और वे किसान मजदूर की एकता को तोड़ने के लिए, उनमें घुसने लगे और दलीय यूनियन बनाकर अपना तथा अपने दान-दाता वर्ग का हित देखने लगे। इससे देश के मुट्ठी भर लोगों को फायदा हुआ और देश का बहुसंख्यक समाज अभाव और गरीबी में पलने लगा। कुछ कांग्रेस के नेता भी, इस संकीर्णता न बच सके। गांधीजी ने, राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान छात्रों को सक्रिय राजनीति से दूर रहने का परामर्श दिया था, किन्तु बाद में कांग्रेसी नेताओं ने, कालिजों, विश्वविद्यालयों और उनके पदाधिकारियों के ऊपर अपना हाथ रखा, छात्र को बढ़ावा दिया, छात्रावासों और कालिज-दफ्तरों में, प्रचार की सामग्री जमा होने लगी। उद्देश्य केवल अपना हित करना था; छात्र, अभिभावक और राष्ट्र के हित की चिंता उनको न रही। अपने संकीर्ण हितों को पूरा करने के लिए, इन राजनेताओं ने या तो अपनी ही जाति के लोगों को, विश्वविद्यालयों का कुलपति बनाया, आयोगों का सदस्य या चेयरमैन नियुक्त किया और शिक्षा-जगत की गरिमा एवं कुशलता का ही सफाया करा दिया।

चौधरी साहब, इस नीति के घोर विरोधी थे। इसका प्रमाण है कि उन्होंने उत्तर प्रदेश के लोक-सेवा आयोग का अध्यक्ष एक गूजर जाति के, ईमानदार व्यक्ति को बनाया था, उत्तर प्रदेश का डी. जी. निहायत ईमानदार एक ब्राह्मण को बनाया था और दिल्ली का पुलिस कमिश्नर भी, एक अन्य ईमानदार पुलिस अफसर चतुर्वेदी ब्राह्मण को बनाया था। यही नहीं, जब अपने दल की ओर से, उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री पद के लिए, नाम प्रस्तावित करने का दायित्व उनको सौंप दिया गया, तो आपने एक वैश्य का नाम प्रस्तावित किया, जाट का नहीं। यह था, आचरण या कार्य के स्तर पर, जातीय संकीर्णता का, उनके द्वारा विरोध एवं त्याग।

इसके विपरीत, कुछ कांग्रेस के नेताओं के दो चेहरे थे। एक से, वह लोकतंत्र की, गरीबों की, मेहनत से कमाने वाले की हिमायत करते थे, जातिवाद और धार्मिक संकीर्णता को कोसते थे, देश से गरीबी और बेकारी दूर करने की कसमें खाते थे। दूसरे चेहरे से, वे लोग जातिवाद को भी प्रश्रय देते, बड़े उद्योगपतियों, उनके मुसाहिबों तथा उनके एजेण्टों का स्वागत करते थे, असामाजिक तत्वों की गतिविधि को नजर-अंदाज करते थे, धनपतियों से लाखों रुपयों की राशि चुनाव-फण्ड के नाम पर लेते थे। 'जैसा अन्न, वैसा मन' वाली कहावत के अनुसार कांग्रेसी नेताओं की मनोवृत्ति भी लाभ कमाने और अपने स्वार्थों को पूरा करने वाली बनती चली गई। उनको यह सोचने का ध्यान एक क्षण के लिए भी नहीं आया

कि उद्योग तथा व्यापार का एक मात्र धर्म मुनाफा कमाना होता है। इसलिए ये लोग, पहले अपना फायदा देखते हैं, तब धर्म, देश और मानव-मूल्यों की बात सोचते हैं। अतः कांग्रेसी नेता, ज्यों-ज्यों उद्योगपतियों तथा पैसे वालों के प्रभाव से विमोहित होते गए, त्यों ही त्यों, देशभक्ति और समाजवादी समाज स्थापना की भावना क्षीण होने लगी, गरीबी दूर करने की ललक गायब हो गई और धन बटोरने की लालसा प्रबल होती गई। आम आदमी की गरीबी बढ़ने लगी, नेता लोग राजाओं का रूप लेने लग गए। गरीबों के लिए अस्पतालों में दवाएं नहीं थीं लेकिन नेताओं के इलाज पर लाखों खर्च होने लगे।

पं. नेहरु ने कतिपय उद्योगों को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाकर एक महान् योजना की नींव डाली थी। लेकिन उन राष्ट्रीय-उद्योगों के प्रबंधकों तथा प्रमुख अधिकारियों को राष्ट्रीयता की भावना से कार्य करने का प्रशिक्षण तथा आन्तरिक प्रेरणा न मिल पाई थी। यही कारण है कि उनमें कार्य-शिथिलता, अकुशलता और भ्रष्टाचार बल पकड़ने लगा। इस बुराई को दूर करने का प्रयास न तो पंडित जी के काल में हुआ और न पंडित जवाहरलाल के बाद के कांग्रेस-प्रशासन में। कांग्रेस-प्रशासन के लगभग तीस वर्ष बाद, चौधरी चरण सिंह की दृष्टि बड़े उद्योगों की अपेक्षा छोटे उद्योगों पर टिकी थी। उनके सामने लुधियाना (भारत) और जापान के घरेलू-उद्योगों की मिसाल मौजूद थी। गांधीजी ने भी घरेलू उद्योगों की बात रखी थी। उसका विशेष महत्व था। लेकिन, बाद के कांग्रेस-शासन ने इस नीति को छोड़ दिया।

उत्तर-प्रदेश की सरकार ने भी कुछ साल पहले एक ऐसा अवसर उपलब्ध करा दिया कि जमींदारों ने, अपनी जोत के नाम पर, हजारों किसानों को बेदखल कराके उनकी भूमि अपने तथा अपने सगे-सम्बंधियों के नाम करा ली। प्रमाणस्वरूप ये पंक्तियां अवलोकनीय हैं—'देशभर में बिना इस बात पर ध्यान दिये कि काश्तकार किस किस्म का है, भूस्वामियों को व्यक्तिगत खेती के लिए, एक निश्चित सीमा तक काश्तकारों द्वारा जोती जाने वाली भूमि के पुनर्ग्रहण का अधिकार दे दिया गया। बम्बई और पंजाब में यह सीमा 50 एकड़ पर निश्चित की गयी और हैदराबाद में इसे आर्थिक जोत की अपेक्षा पांच गुना बड़ी भूमि के बराबर तय किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में पुनर्ग्रहण के सिद्धांत का समर्थन किया गया, परन्तु यह सुझाव भी रखा गया कि पुनर्ग्रहण की अधिकतम सीमा पारिवारिक जोत के तीन गुना के बराबर तय की होनी चाहिए।

'इस सुझाव को लागू करने का परिणाम यह हुआ कि बड़े पैमाने पर काश्तकारों को भूमि से बेदखल किया जाने लगा। इसमें मौरूसी काश्तकार भी शामिल थे, जिन्हें अंग्रेजों के शासन-काल से ही भूमि पर स्थायी और पुश्तैनी दखलकारी

का अधिकार मिला हुआ था।'[1] पंडित जवाहरलाल नेहरू की कांग्रेस सरकार का यह कदम किसान-विरोधी था और जमींदारों के हितों का समर्थक। फलतः देश की गरीबी दूर करने वाला भी था। यही कारण है कि चौधरी चरण सिंह ने योजना-आयोग की सिफारिश को अस्वीकार कर उत्तर-प्रदेश में किसी भी काश्तकार को भूमि से बेदखल नहीं होने दिया। इसके विपरीत, राज्य में कांग्रेस के कुछ प्रमुख सदस्यों के कड़े विरोध के बावजूद, 1954 में कानून में संशोधन कर उन सभी वर्गों को सीरदारी का स्थायी अधिकार प्रदान कर दिया गया, जिन्हें मालगुजारी के दस्तावेजों में उपकाश्तकार, सीर के काश्तकार, खुदकाश्त का अतिचारी भी माना गया और जिनको जमींदारी-उन्मूलन भूमि-सुधार अधिनियम के अन्तर्गत अधिवासियों का दर्जा दिया गया था।'[2] इस कथन से, यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि पंडित जवाहरलाल नेहरू की कांग्रेस जमींदारों के प्रभाव के सामने घुटने टेकती रही थी। यदि किसी ने घुटने नहीं टेके तो, वह सिर्फ चौधरी चरण सिंह ही थे। हालांकि वह कांग्रेस के अंग थे। चौधरी साहब द्वारा कराये गये 'संशोधन से हरिजनों को अत्यधिक लाभ हुआ। क्योंकि राज्य के लगभग 30 लाख अधिवासियों में उनका अनुपात एक तिहाई था।' इस तथ्य से, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चौधरी चरण सिंह की नीति किसानों तथा गरीबों का हित करने वाली थी और कांग्रेस की जमींदारों को मोटा करने की, यद्यपि वह नारे लगाती थी गरीबों के हित में। चौधरी साहब, कांग्रेस के अंग होते हुए भी साहसपूर्वक कांग्रेस के किसान-गरीब विरोधी कार्यों का विरोध करते थे। संभवतः इसी कारण नेहरुजी को उनके कार्यों तथा कथनों में 'जाटपन' नजर आया।[3] खेद है कि पंडित जी जैसे देशभक्त, विद्वान् तथा लोकतंत्र के प्रति निष्ठावान व्यक्ति ने, चौधरी साहब के 'जाटपन' को ईमानदारी, निर्भीकता, लोकतंत्र का रक्षक और गरीब-हितैषी विचार न मानकर जातीय संकीर्णता का मान लिया। यथार्थ में, मेरठ जनपद के कांग्रेस-संगठन में उनका कार्य, एक निष्ठावान कांग्रेसी, प्रतिबद्ध देशभक्त, निर्भीकतापूर्वक लोक-हितैषी विचारों को व्यक्त करने वाले साहसी व्यक्ति का कार्य था, लेकिन सत्य यह है कि उच्च वर्ण के कांग्रेसियों, उनके पोषक साहूकारों, उद्योगपतियों और जमाखोरों को न लोकहित प्रिय था, न देशभक्ति। उनको प्रिय था, केवल अपना आर्थिक हित और ऐसे लोगों ने ही पंडित नेहरु के दिलो-दिमाग पर चौधरी साहब की

---

1. डॉ. सुखबीर सिंह गोयल, अन्याय, शोषण और भ्रष्टाचार विरोधी योद्धा चौधरी चरण सिंह, सन् 1978, पृ. 6
2. वही, पृ. 7
3. वही, पृ. 7

गलत तस्वीर अंकित कर दी। फलतः पंडित जी उनको पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर देखने लगे और उनकी देश-हितैषी बातों में भी उनको विरोध नजर आने लगा।

इसका प्रमाण मिलता है कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में। पंडित जी ने, उस अधिवेशन में, भारत के लिए सहकारी-खेती का प्रस्ताव किया। समस्त प्रतिनिधि मंत्र-मुग्ध होकर सुनते रहे। उनमें से, निश्चय ही कुछ ऐसे रहे होंगे, जो पंडित जी के मत से असहमत थे, लेकिन विरोध में जबान नहीं खोल सकते थे। उस समय, एकमात्र व्यक्ति चौधरी चरण सिंह ही थे, जिन्होंने पंडित जी के प्रस्ताव को, देश की परिस्थितियों के विपरीत बताया और बल दिया कि यह प्रस्ताव बिना विचार किये स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। पंडित जी सहकारी खेती और खाद्यान्न के राजकीय व्यापार के पक्षधर थे। चौधरी साहब की धारणा थी कि सहकारिता की अनिवार्यता से वैयक्तिक रुचि और स्पर्धा का अभाव पैदा हो जाएगा और इससे खाद्यान्न के उत्पादन पर प्रभाव पड़ेगा। खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार के विषय में उनकी धारणा थी कि इससे भ्रष्टाचार को बल मिलेगा। आज हम देख चुके हैं कि लगभग सभी राष्ट्रीय औद्योगिक संस्थान घाटे के रोग से ग्रसित हैं। फलतः उनको निजी क्षेत्र को या उद्योगपतियों को बेचा जाता रहा है। सहकारिता के विषय में तो स्वयं पंडित जी ने अपने विचारों में परिवर्तन कर लिया था। फिर भी, कांग्रेस-लॉबी चौधरी चरण सिंह से कुपित हो उठी। फलतः चौधरी साहब ने, उत्तर-प्रदेश के मंत्रिमंडल से त्याग-पत्र दे दिया, लेकिन अपनी लोक-निष्ठा, ईमानदारी स्वाभिमान के साथ समझौता नहीं किया।

पंडित गोविन्द वल्लभ पंत चौधरी साहब की ईमानदारी, कार्यकुशलता, निष्ठा और कर्तव्यपरायणता से अवगत थे। वह अच्छे प्रशासक भी थे, अतः चौधरी साहब द्वारा अपनाई गई प्रशासनिक सख्ती को पसंद करते थे। एक दिन बातचीत के दौरान चौधरी साहब ने बताया था कि जब उन्होंने जमींदारी उन्मूलन कानून को सख्ती के साथ, मैदानी क्षेत्रों में लागू किया तो स्वार्थों पर आघात लगने के कारण, अनेक कांग्रेसी-नेताओं ने पंतजी से उनकी शिकायतें कीं, तब पंतजी ने हमेशा मेरा पक्ष लिया। लेकिन निष्ठापूर्वक कार्य-कौशल का जो महत्व पंतजी के लिए था, वह उनके उत्तराधिकारी डॉ. सम्पूर्णानंद के लिए नहीं था। फलतः आपने चौधरी साहब से कृषि विभाग लेकर परिवहन विभाग सौंप दिया। अप्रैल 1958 में परिवहन के स्थान पर वित्त-विभाग दे दिया। विभागों के जल्दी-जल्दी बदलने से, चौधरी साहब जिस प्रशासकीय कौशल की स्थापना कर्मचारियों में करना चाहते थे, नहीं कर पाये। अतः उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। श्री अनिरुद्ध पाण्डेय की मान्यता है कि चौधरी साहब के त्याग-पत्र देने के मूल में 'डॉ. सम्पूर्णानंद

और चौधरी चरण सिंह के व्यक्तित्वों की टकराहट के अतिरिक्त इसका प्रमुख किन्तु अप्रकट कारण जून 1959 के नागपुर अधिवेशन में चौधरी साहब द्वारा प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरु द्वारा प्रतिपादित सहकारी खेती के प्रस्ताव का सटीक विरोध था।'[1]

किसी ईमानदार, निष्ठावान, प्रशासनिक-कौशल से सम्पन्न व्यक्ति को, उसके देश-हित-रक्षक विचारों के कारण जल्दी-जल्दी विभाग बदल कर परेशान किया जाना अथवा अयोग्य सिद्ध करने का प्रयास किया जाना अथवा उस पर जातिवादी होने का आरोप लगाकर, लोकतंत्र की राजनीति में, अप्रासंगिक बनाने का प्रयास किया जाना आदि उदात्त मूल्यों से परिचालित राजनीति नहीं मानी जा सकती। लेकिन भारतीय राजनीति के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद हैं, उनमें से एक चौधरी साहब का भी है। किन्तु खेद यह है कि ये बेबुनियाद आरोप लगाये गये थे, भारत के लोकतंत्र के प्रहरी माने जाने वाले कांग्रेस के उच्च नेताओं ने। पंडित जी ने चौधरी साहब पर जाटपन का आरोप लगाया था। इस पर 'जातिवादी कौन : एक विश्लेषण' पुस्तिका की टिप्पणी है–'बहुत आश्चर्य होता है जब श्री नेहरु चरण सिंह के खिलाफ जो आरोप लगाते हैं, वे अपने खुद के कश्मीरी ब्राह्मणों के प्रति अतिरिक्त मोह को, एक रिश्तेदार के मोह को भूल जाते हैं।'[2] टिप्पणीकार का संकेत एक उच्च सैनिक अधिकारी की ओर है, जिसको भारत-चीन सीमा पर युद्ध के समय संकट से बचाने के लिए स्थानान्तरित कर दिया गया था और इस प्रश्न को लेकर देशभर में पंडित नेहरु की न्यायप्रियता पर अनेक प्रश्न-चिन्ह लगाये गये थे। यही नहीं, 'जातिवादी कौन : एक विश्लेषण' यह भी बताता है कि 'उन्हें कभी यह बात भी ध्यान नहीं आई कि उनको उस संस्था की कार्यवाही में भाग नहीं लेना चाहिए जिसकी सदस्यता केवल उनके अपने कश्मीरी पंडितों के समुदाय तक ही सीमित हो।'[3] यही नहीं, इस पुस्तक के लेखक का मत है–'उनकी अर्थात पंडित नेहरु की चिंता के लिए धन्यवाद, जिसकी वजह से श्री नेहरु के जमाने में एक भी कश्मीरी नवयुवक बेरोजगार नहीं रह सकता था।'[4] इस टिप्पणी का अर्थ यह है कि पंडित जी के प्रभाव से, प्रत्येक कश्मीरी पंडित को, रोजगार मिल जाया करता था।

विडम्बना यह है कि स्वयं जातिवादिता के कठघरे में खड़े होते हुए भी कोई व्यक्ति, दूसरों पर जातिवादी होने के आरोप लगाये और अपनी ओर न

1. अनिरुद्ध पाण्डेय, धरतीपुत्र चौधरी चरण सिंह, पृ. 54
2. वही, पृ. 35
3.4. वही, पृ. 36

देखे, यह एक सामाजिक एवं नैतिक अपराध है। पर श्रीमती गांधी ने, अपनी कुर्सी को सुरक्षित रखने के लिए हर तरह के हथकंडे अपनाये थे। वह चाणक्य की परंपरा की अनुयायी थीं, जो अपने उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद आदि सबसे काम लेती थीं। अन्तर केवल यह है कि चाणक्य को यह नीति भारत को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लिए प्रतिपादित करनी पड़ी थी और श्रीमती गांधी ने केवल स्वयं को शक्तिशाली बनाने के लिए। अतः उनके कार्य को, सच्चा भारतीय विराग एवं उपेक्षा की दृष्टि से देखेगा। इसका अर्थ यह नहीं निकाला जाना चाहिए कि इन पंक्तियों के लेखक का उद्‌देश्य दोनों प्रधानमंत्रियों के व्यक्तित्व को कम करके आंकना है, वरन् एक ऐतिहासिक सत्य को, राष्ट्र-हित में उजागर करना है। कारण यह है कि समस्त बुराईयों की जड़ जातीय संकीर्णता है।

श्रीमती गांधी ने, अपने एक साक्षात्कार में, चौधरी साहब पर जातिवादी होने का खुला आरोप लगाया था। इसके विषय में, 'जातिवादी कौन : एक विश्लेषण' का कथन है—'1980 में एक स्थानीय पत्रिका 'प्रोव' को दिये एक साक्षात्कार के दौरान श्रीमती गांधी ने कहा था—'हाल में चौधरी चरण सिंह द्वारा केन्द्रिय मंत्रिमंडल में महत्वपूर्ण पद पर रहने के बाद ही राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में जातीयता अत्यंत महत्वपूर्ण हो गयी।'[1]

श्रीमती गांधी के इस आरोप के सम्बंध में, चौधरी साहब ने, 15 जुलाई 1980 के दिन, एक प्रैस-वक्तत्व के माध्यम से, उनको चुनौती देते हुए कहा था—'श्रीमती गांधी ने जान-बूझकर यह गलत वक्तव्य दिया था। इसका उद्‌देश्य मुझे बदनाम करना था, ताकि लोगों का ध्यान उनकी सरकार द्वारा किये गये गलत कामों तथा उनकी असफलता की ओर से हटाया जा सके। वह केन्द्रीय मंत्री के रूप में लिये गये एक भी ऐसे निर्णय का उदाहरण नहीं दे सकती, जिसकी वजह से जातीयता की भावना को बढ़ावा मिला हो। इसकी ओर यदि कोई भी उनके मंत्रिमंडलीय सहयोगियों की सूची तथा उन प्रत्याशियों की सूची पर निगाह डाले, जिन्हें उन्होंने उत्तर-प्रदेश विधान-सभा के लिए चुना है, तो स्पष्ट हो जायेगा कि यह आरोप श्रीमती गांधी पर ज्यादा सही उतरता है।'[2] चौधरी साहब द्वारा दी गयी, इस चुनौती का उत्तर कभी नहीं दिया गया। यथार्थ में, स्वयं को सत्ता में बनाये रखने के लिए जो दोष पौराणिक युग के पुरोहित वर्ग

1. जातिवादी कौन : एक विश्लेषण, पृ. 36
2. वही, पृ. 36

में मिलते थे, वे प्रायः सभी श्रीमती गांधी में भी थे। अपने राजनीतिक प्रतिद्वंदियों को प्रभावहीन बनाने के लिए वह कोई भी कार्य कर सकती थीं और केवल स्वयं को देशभक्त, कुशल-प्रशासक और सर्वगुण सम्पन्न बताने के लिए कुछ भी कह सकती थीं, या कर सकती थीं। जिस प्रकार पुराने युग का पुरोहित या गुरू, ब्राह्मण को सर्वगुण सम्पन्न सिद्ध करता था, उसके आशीर्वाद से समस्त घटनाओं तथा कार्यों का सृजन होना बताता था और उसके शाप से ही विनाश की रचना होती थी, उसी प्रकार, श्रीमती गांधी और यहां तक कि उनके कुछ विशिष्ठ दरबारी उनको ही सर्वगुण सम्पन्न कहते थे। 'इंदिरा इज इंडिया' और 'इंडिया इज इंदिरा' जैसे वाक्य इसके प्रमाण हैं। स्वयं महात्मा गांधी तक ने, अपने को इंडिया नहीं बताया। लेकिन श्रीमती गांधी को इंडिया कहा गया और इसका प्रतिवाद कहीं नहीं किया गया।

श्रीमती गांधी, अपनी कठपुतलियों को, अथवा स्वयं को शक्ति के केन्द्र में बिठाने के लिए सब कुछ किया करती थीं। ऐसा ही, एक गठबंधन उन्होंने उ. प्र. में श्री सी. बी. गुप्ता के साथ किया था। गुप्त जी के साथ, यह तय किया गया कि वह मोरारजी को उनके पक्ष में राजी कर लें और वह उनको, सी. बी. गुप्त को, उत्तर-प्रदेश का मुख्यमंत्री बना देंगी। श्री सी. बी. गुप्ता ने मोरारजी को राजी कर लिया और इस तरह सरमायेदारों के प्रतिनिधि सी. बी. गुप्त और मोरारजी एवं सत्ता की प्रतीक श्रीमती गांधी दोनों ने मिलकर किसान तथा मजदूरों की सरकार-निर्माण का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। चौधरी चरण सिंह ने, उस समय भी एक ईमानदार तथा निष्ठावान कांग्रेस कार्यकर्ता का दायित्व निभाया। घटना इस प्रकार है—सन् 1967 के आम चुनावों में उत्तर-प्रदेश में विपक्षी दलों को 227 और कांग्रेस को 98 स्थान प्राप्त हुए थे। कांग्रेस की पराजय का दायित्व उसके चोटी के नेताओं की नीति और कार्य-प्रणाली पर था। केन्द्र में श्रीमती गांधी की सरकार थी। उत्तर-प्रदेश के विरोधी दलों के सदस्यों ने, एक ईमानदार तथा कुशल व्यक्ति के रूप में चौधरी साहब का नाम निश्चित करके उनसे अनुरोध किया और प्रदेश में पहली गैर-कांग्रेसी सरकार बनाने का प्रस्ताव किया, लेकिन चौधरी साहब ने प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। साथ ही, श्रीमती गांधी के दो विश्वस्त प्रतिनिधि सर्वश्री उमाशंकर दीक्षित और श्री दिनेश सिंह की बात मानकर सी. बी. गुप्त का नाम प्रस्तुत करने का प्रस्ताव इस शर्त पर स्वीकार कर लिया था कि दो भ्रष्ट व्यक्तियों को मंत्रिमंडल में शामिल नहीं किया जायेगा और उनके स्थान पर स्वच्छ छवि के दो व्यक्ति ले लिये जायेंगे। लेकिन मुख्यमंत्री बनने के बाद श्री गुप्त ने ऐसा नहीं किया और श्री दीक्षित

तथा श्री दिनेश सिंह ने भी अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी। इस समस्त प्रकरण के लिए 'धरती पुत्र चौधरी चरण सिंह, पृष्ठ 236-240 तथा डॉ. सुखवीर सिंह की पुस्तक के पृष्ठ 51-52 देखे जा सकते हैं। इस घटना से सिद्ध होता है कि अवसरवाद की राजनीति कौन करता था? कांग्रेस को अलोकप्रिय कौन बना रहा था और कौन भारत के लोकतंत्र की नसों में बेईमानी, भ्रष्टाचार तथा अवसरवादिता के विष के इंजेक्शन लगा रहा था। उत्तर स्पष्ट है कि देश के किसी भी प्रबुद्ध व्यक्ति से यह बात छिपी नहीं कि पंडित नेहरु की तीन पीढ़ियों ने देश पर शासन किया है और इस अवधि में देश ने बाहरी संसाधनों में प्रगति अवश्य की है, लेकिन उदात्त जीवन-मूल्यों के निर्वाह में वह बहुत नीचे चला गया है। सरकारी दफ्तर भ्रष्टाचार के अड्डे बन कर रह गये हैं, आये दिन अनेक प्रकार के घोटालों की कहानियां सुनने को मिलती हैं। देश के एक वर्ग की पूंजी बढ़ी है, किन्तु गरीब वर्ग को न तो अभी तक पर्याप्त मात्रा में भोजन मिल पाया है, न शुद्ध पानी, लाखों की संख्या में लोग सड़कों के फुटपाथों पर सोते हैं। स्वाधीनता की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में आयोजित लोकसभा के विशेष अधिवेशन में विभिन्न दलों के सदस्यों द्वारा देश में वर्तमान राजनीति के असामाजीकरण, आर्थिक घोटाले, भ्रष्टाचार, गरीबी और आतंकवाद के प्रसार पर व्यक्त चिंता इस विवेचन का समर्थन करती है।

चौधरी साहब, देश के नैतिक पतन को रोकने के लिए कटिबद्ध थे। उनका कटु आलोचक भी उन पर भ्रष्टाचार का आरोप नहीं लगा सका था। जब प्रश्न उनकी जातिवाद-विरोधी प्रवृत्ति का उठता है, तो यह कहना अधिक संगत होगा कि उन्होंने अपने ऊपर जातिवादिता का आरोप लगाने वाले दो-प्रधानमंत्रियों को सप्रमाण उत्तर दिये। उत्तर प्रदेश के नगर मुरादाबाद में साम्प्रदायिक दंगे हुए। दंगों के कारण कुछ भी रहे हों, लेकिन श्रीमती इंदिरा गांधी को मौका मिल गया, उस कौम को बदनाम करने का, जिसमें चौधरी चरण सिंह ने जन्म लिया था। 13 अगस्त 1980 को हुए अग्निकांड के विषय में श्रीमती गांधी का वक्तव्य 22-8-1982 को 'पायनियर' में छपा। उसमें कहा गया था–'यह पहला मौका नहीं जब उत्तर प्रदेश की पुलिस, खासतौर पर राज्य की सशस्त्र पुलिस, साम्प्रदायिक और मुसलमान विरोधी होने की दोषी पाई गयी। इस बार भी जब प्रतिपक्ष के संसद सदस्यों का एक दल प्रधानमंत्री से मिला, उन्होंने इस तरह की राय जाहिर की कि उत्तर प्रदेश की सशस्त्र पुलिस में जाटों की अधिक भर्ती है, जिनकी साम्प्रदायिक प्रवृत्ति सर्वविदित है।'[1]

1. जातिवादी कौन : एक विश्लेषण, पृष्ठ 37

श्रीमती गांधी के उक्त कथन की सच्चाई जानने के लिए 'लोकदल' के एक मुस्लिम संसद-सदस्य को वहां भेजा गया था। उनकी रिपोर्ट के अनुसार कहा गया है कि 'पी. ए. सी. की जो शक्ति मुरादाबाद में पदस्थ थी, उसमें राजपूत और ब्राह्मणों की संयुक्त संख्या 67 प्रतिशत थी और जाटों की 3 प्रतिशत।[1] यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि 3 प्रतिशत जाटों ने मुरादाबाद में साम्प्रदायिकता फैला दी और 67 प्रतिशत अन्य जातियों के अधिकारी देखते रहे। इसका अर्थ है कि 67 प्रतिशत पी. ए. सी. अधिकारियों ने अपने दायित्व की पूर्ति नहीं की। 'जातिवादी कौन : एक विश्लेषण' की मान्यता है कि मुरादाबाद की भीड़ ने साम्प्रदायिक जुनून में जिस अधिकारी को मार डाला था, वह जाट था। इसके अतिरिक्त वहां दो-तीन कर्तव्यपरायण जाट अधिकारी ऐसे भी थे, जो हिन्दू साम्प्रदायिक जुनून से, मुस्लिम जनता की रक्षा करने का दुस्साहस कर सकते थे, उनको वहां से हटा दिया गया।[2]

इस सब फेर-बदल तथा बयानबाजी का क्या अर्थ निकलता है, यह हर समझदार व्यक्ति जानता है। इसी झूठ, प्रचार और देश को आगे ले जाने की विफलता के कारण कांग्रेस और उसके नेताओं की लोकप्रियता निरंतर घटती गयी। महात्मा गांधी के आह्वान पर सरकारी सेवाओं को त्याग कर, विश्वविद्यालयों की शिक्षा को तिलांजलि देकर और अंग्रेजों के फांसी के तख्तों पर झूल कर अथवा गोली का शिकार होकर, जिन देशवासियों ने कांग्रेस को स्वाधीनता प्राप्त करने का श्रेय दिलाया था, वे ही लोग अथवा उनकी संतानें कांग्रेस-नेतृत्व को उदात्त जीवन मूल्यहीन तथा केवल आत्मकेन्द्रित अवसरवादियों का संगठन समझ कर नकारने लगीं, उसी का परिणाम हुआ कि केन्द्र में अल्पमत की कांग्रेस-सरकार का गठन और कई बड़े प्रदेशों से कांग्रेस सरकारों का सफाया। यदि कांग्रेस-दल लोकहित के साथ प्रतिबद्ध था, तो इतना अलोकप्रिय कैसे हो गया कि अधिकांश प्रदेशों और केन्द्र से उसका सफाया ही हो गया।

कांग्रेस के बड़े नेताओं ने, इस सिद्धांत पर ध्यान नहीं दिया कि एक व्यक्ति को लम्बे समय तक बहकाया जा सकता है, अधिक लोगों को थोड़े समय तक बहकावे में रखा जा सकता है, लेकिन अधिक लोगों को अधिक समय तक, धोखे में नहीं रखा जा सकता है। यदि, कांग्रेस के चोटी के नेता, इस सिद्धांत को समझ कर लोगों को धोखे में रखने का प्रयास न करते, कोरे सब्ज-बाग दिखाकर शासन करने का प्रयास न करते, गरीबी मिटाने का नारा लगा कर

---

1. जातिवादी कौन : एक विश्लेषण, पृ. 37
2. वही, पृ. 37

लोगों को अंधकार में न रखते तो न कांग्रेस की वह दुर्गति होती, जो आज हो रही है, न देश में भ्रष्टाचार, मूल्यवृद्धि, बेकारी, घोटालों और राजनीति के असामाजीकरण का दानव देश की आत्मा को खाने पाता। आज जो देश, नैतिक मूल्यों के अनुसार शासन करने की दृष्टि से धरातल पर पहुंच गया है, उसके लिए कांग्रेस सर्वाधिक जिम्मेदार है और कांग्रेस में भी वह वर्ग, जिस पर कांग्रेस के घोर जातिवादी नेताओं की छाया पड़ गयी थी।

अब एक सीधा-सा प्रश्न यह किया जा सकता है कि श्रीमती इंदिरा गांधी ने, केवल चौधरी चरण सिंह पर, साम्प्रदायिक तथा जातीयता की संकीर्णता से ग्रसित होने के आरोप क्यों लगाये? इसका सीधा-सा उत्तर भी यह है कि लोकनायक जयप्रकाश नारायण के बाद, चौधरी साहब ही उनको एक मात्र ऐसे लोकप्रिय राजनीतिज्ञ नजर आते थे, जिसके कुछ नैतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन-मूल्य थे और जिनका व्यापक जनाधार था। वह, यह भी जानती थीं कि सन् 1977 के लोक-सभा के चुनाव में, जनता पार्टी की ओर से, चौधरी साहब ही, उत्तर भारत के चुनाव प्रचार के लिए उत्तरदायी थे और यह उनके ही प्रचार का परिणाम था कि कांग्रेस को, केवल राजस्थान से, एक सीट मिली थी और उस पर भी एक जाट विजयी हुआ था। दूसरे, चौधरी साहब ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति थे, जिसने उत्तर-प्रदेश की विधान-सभा में, इंदिरा जी की कार्य-शैली और आपातकाल के दौरान की गयी ज्यादतियों की आलोचना करते हुए बहुत लम्बा भाषण दिया था और तीसरा वही, एक मात्र ऐसे व्यक्ति थे, जिसने कांग्रेस की सहायता से, प्रधानमंत्री बने रहने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था। अतः उनको, अपनी सत्ता के लिए सब से बड़ा खतरा चौधरी साहब ही नजर आते थे। वह, यह भी देख चुकी थीं कि कांग्रेस के गढ़ उत्तर-प्रदेश में, चौधरी साहब ने ही, सर्वप्रथम गैर-कांग्रेसी सरकार का गठन करके, भारत के भूखे-नंगे तथा गरीब लोगों को, नया रास्ता दिखाया था। यही नहीं, वह यह भी जानती थीं कि सैकड़ों-हजारों कांग्रेसियों में एक मात्र साहसी तथा निर्भीक और देश की प्रगति तथा हितों के साथ सम्बद्ध व्यक्ति चरण सिंह ही हैं। यदि देश की संकीर्ण राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियों के गठबंधन से चौधरी चरण सिंह को अलग नहीं किया गया होता, तो वह कांग्रेस की सत्ता के लिए भयंकर संकट बन कर उभरते। पंडित जी ने जिस प्रकार भारत का भाग्यविधाता अपनी पुत्री को बनाया था, उसी प्रकार उनकी बेटी भी, अपनी संतान के हाथों में, देश की बागडोर सौंपने के लिए, जाल बुनने पर लगी थी।

चौधरी साहब से भय न केवल श्रीमती इंदिरा जी को ही था, वरन देश

के उद्योगपतियों को भी था। वे जानते थे कि गांधी जी की तरह चौधरी साहब भी लघु तथा कुटीर उद्योग धंधों के पक्षपाती हैं और अपने सिद्धांतों में वह गांधी जी से एक कदम आगे हैं। इसलिए कि गांधी जी के पास केवल सिद्धांत थे, उनके कार्यान्वयन की सामर्थ्य एवं शक्ति उनके पास न थी। इसका प्रमाण है कि उनके उत्तराधिकारी नेताओं ने देश के आर्थिक विकास की जो नीति अपनाई थी, वह गांधीवादी नीति के विपरीत थी। दूसरे चरण सिंह जी सन् 1952 में जमींदारी उन्मूलन का कठिनतम काम करके अपनी दृढ़ता, योजना-कौशल और उसको ठोस रूप देने की अपनी क्षमता को सिद्ध कर चुके थे। चौधरी साहब ऐसा कानून बनवाने की दिशा में सक्रिय थे कि जो वस्तुएं कुटीर एवं लघु उद्योगों में उत्पन्न होंगी, उनको बड़े उद्योगों में उत्पन्न नहीं किया जायेगा। इसके अतिरिक्त सब से बड़ा खतरा कांग्रेस के उन पक्षधरों को था, जो मादक-पदार्थों का उत्पादन करते हैं। उनको अपना व्यापार खत्म होता नजर आ रहा था। केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार के लगभग 99 प्रतिशत मंत्रीगण नशाबंदी के पक्ष में थे। इस प्रकार देश की समस्त प्रतिगामी ताकतें चौधरी साहब के खिलाफ गिरोहबंद हो रहीं थीं और इस प्रकार देश को गरीबी तथा भ्रष्टाचार का स्थायी अखाड़ा बनाने की योजनाओं में लगी थीं। कांग्रेस से बाहर हुए सिंडीकेट नेता स्वर्गीय मोरारजी देसाई और श्रीमती गांधी परस्पर विरोधी होते हुए भी दोनों एक तट पर खड़े थे और हर प्रकार का हथियार फेंक कर उनका शिकार करने पर तुले थे। उन हथियारों में से एक जातिवादिता का भी था।

श्रीमती गांधी द्वारा लगाये जातिवाद के आरोप का उत्तर देते हुए 'जातिवादी कौन : एक विश्लेषण' के ये शब्द विचारणीय हैं–'पूरे देश में दो-चार या पांच ऐसी जातियां हैं जो कुल मिलाकर एकाधिकारपूर्वक देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक और शैक्षणिक सत्ता का उपभोग करती हैं और ब्राह्मण समुदाय इस सत्ता में, यों कहा जाए लूट में, सर्वाधिक हिस्सा पाता है'[1]

इस कथन में, बड़ी दम नजर आती है। यदि देश की लूट न की गयी होती और उसको पूरी ईमानदारी के साथ विकास के मार्ग पर ले जाया गया होता, तो वह भी आज चीन तथा जापान की तरह शक्तिशाली होता। भारत के बाद में स्वाधीन हुआ चीन और द्वितीय विश्वयुद्ध में दो अणु बमों से तबाह हुआ जापान भारत से अधिक सम्पन्न और शक्तिशाली है। इसका स्पष्ट कारण उनके नेताओं की राष्ट्रोत्कर्ष की दिशा में ईमानदारी और तन्मयता है और हमारी

1. जातिवादी कौन : एक विश्लेषण, पृ. 37

गरीबी, भ्रष्टाचार घोटाला-बाजी और बेरोजगारी का कारण है नेताओं की स्वार्थपरता, मूल्य-हीनता, अदूरदर्शिता एवं दुहरा व्यक्तित्व। चौधरी साहब को, हमारे नेताओं की दुहरी नीति से घृणा थी और वह यह दिखाने पर कटिबद्ध थे कि देश को भ्रष्टाचार से मुक्त किया जा सकता है और किसी प्रकार कथन और कर्म की एकता को बनाये रखा जा सकता है?

सब लोग जानते थे कि वह जिस विभाग के मंत्री रहे, उस विभाग में रिश्वतखोर अफसरों का रहना मुश्किल था। प्रो. गोयल का कथन है कि 1958-59 में केवल चार महीनों के लिए श्री चरण सिंह ने सिंचाई और ऊर्जा विभाग भी चलाया। उस छोटी-सी अवधि में, उन्होंने कई इंजीनियरों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के लिए अनुशासनात्मक कार्यवाही प्रारम्भ की। श्री चरण सिंह के इस्तीफे को स्वीकार कर लिये जाने के बाद इस विषय पर 23 अप्रैल 1959 को 'नेशनल हेरॉल्ड' में इस प्रकार टिप्पणी की गई–'अपने अंतिम कार्यकाल में वे ऊर्जा और सिंचाई के क्षेत्रों में भ्रष्टाचार की जांच करने का बहुप्रशंसित कार्य कर रहे थे। ये दो ऐसे विभाग हैं जिन पर बदनामी की पर्तें जमीं हुई हैं और कहा जाता है कि इन विभागों में उनके इस्तीफे के उपलक्ष्य में उत्सव मनाये जाने की प्रतीक्षा हो रही थी। कुछ इंजीनियरों और ठेकेदारों ने वास्तव में इस पर उत्सव मनाया।'[1]

इसी संदर्भ में, मुझे एक घटना का स्मरण है, जो मुझे चौधरी साहब के विश्वस्त, बड़ौत के लाला श्रीराम ने सुनाई थी। किसी इंजीनियर के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप में कोई ठोस कदम उठाया गया था। वह अपने रिश्तेदारों को लेकर लाला श्रीराम के पास आया और बड़ौत के रिश्तेदारों के आग्रह पर लालाजी लखनऊ गये। चौधरी साहब को अपने आने का कारण बताया। चौधरी साहब ने उसकी फाइल मंगाई और डेढ़ घंटे तक उसको पढ़ते रहे। अंत में फाइल बंद करके मेज पर रख दी और अपनी हथेली पर अपना माथा टेक कर बैठ गये। थोड़ी देर बाद, लालाजी के पूछने पर बोले–'लालाजी इस फाइल में से बदबू आती है।' लालाजी, गलत सिफारिश के लिए आने का खेद व्यक्त करके चले आये। विभाग से, चौधरी साहब के अलग हो जाने पर उसी व्यक्ति की पदोन्नति हो गयी। प्रो. गोयल ने अपनी पुस्तक में, चौधरी साहब की ईमानदारी के समर्थन में एक घटना का उल्लेख और किया है–'उर्जा विभाग में श्री चरण सिंह ने अपने कार्यकाल के आरम्भ में ही मुख्य इंजीनियर को, जो काफी बदनाम था, अवकाश प्राप्त कर लेने को कहा। इस बात से मुख्यमंत्री नाराज भी हुए।[2]

1. सुखबीर सिंह गोयल, अन्याय, शोषण और भ्रष्टाचार विरोधी योद्धा चौधरी चरण सिंह, पृ. 26-27
2. वही, पृ. 28

प्रश्न उठता है कि मुख्यमंत्री जी नाराज क्यों हुए? उनको तो अपने न्यायप्रिय तथा ईमानदार मंत्री के भ्रष्टाचार-विरोधी तथा राष्ट्रहित सूचक कार्य पर गर्व करना चाहिए था। उनके नाराज होने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मुख्यमंत्री जाने-अनजाने में प्रदेश में भ्रष्टाचार का समर्थन कर रहे थे। प्रो. गोयल ने, ऊर्जा-विभाग से सम्बंधित चौधरी साहब की मितव्ययता, देशभक्ति, ईमानदारी और साहस की परिचायक एक घटना का उल्लेख और किया है। उत्तर-प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ. सम्पूर्णानंद ने रिहन्द-बांध से उत्पन्न उर्जा-शक्ति का आधे से अधिक भाग बिड़ला की अलम्यूनियम फैक्ट्री को देने का निश्चय किया था और वह भी उत्पादन लागत से भी कम मूल्य पर। इस निर्णय से प्रदेश को 20 करोड़ रुपये का घाटा होने की संभावना थी। चौधरी साहब ने, इस निश्चय का विरोध किया और उनके त्यागपत्र का तत्कालीन कारण भी यही था।[1] प्रो. गोयल के अनुसार 1963-64 की लेखा-परीक्षा रिपोर्ट के अनुसार उक्त सौदे से प्रदेश को 50-55 लाख रुपये वार्षिक की हानि होगी।[2] रिहन्द-बांध से बिजली की उत्पादन लागत 3.16 पैसे पड़ती थी और बिड़ला फैक्ट्री को 2.00 पैसे प्रति यून्टि दी गयी थी।[3] इस तथ्य से चौधरी साहब का पक्ष प्रदेश तथा अन्ततः राष्ट्र के लिए हितकारी है और सरकार का निश्चय देश के लिए अलाभकारी। इससे एक पूंजीपति को लाभ हुआ और देश की गरीब जनता की गरीबी बढ़ी। यहां यह कहना भी असंगत न होगा कि देश की सरकारों द्वारा किये गये ऐसे निर्णयों के कारण ही किसी समय देश की गणना, विश्व के गरीब राष्ट्रों में 123वें स्थान पर की गयी थी।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण और राजाओं के प्रिवीपर्स को समाप्त करके, प्रगतिशील और जनवादी होने का दावा पेश करने वाली केन्द्र की कांग्रेस-सरकार पूंजीपतियों की पूंजी का विकास कर रही थी और देश के गरीबों के लिए संघर्ष करने वाले, ईमानदार मंत्रियों पर जातिवादी होने का आरोप लगाकर उन्हें खत्म कर रही थी, ताकि उसकी भूलों, लोकतंत्र को धूल में मिलाने वाली गतिविधियों और नेताओं के संकीर्ण स्वार्थों पर बोलने का कोई साहस न कर सके।

दोषी व्यक्ति को दण्ड दिलाने और प्रशासनिक निर्णय लेने में भी चरण सिंह जी बेजोड़ थे। प्रो. गोयल तथा उनकी जीवनी-लेखक अनिरुद्ध पाण्डेय ने, कुछ घटनाओं का उल्लेख किया है। भारत की विडम्बना भरी दूषित राजनीति

---

1. प्रो. सुखबीर सिंह गोयल, अन्याय, शोषण और भ्रष्टाचार विरोधी योद्धा चौधरी चरण सिंह, पृ. 28
2. वही, पृ. 28
3. वही, पृ. 29

को बताने के लिए, उनमें कुछ का यहां उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। जनपद मेरठ के वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक का मुख्यमंत्री ने तबादला इसलिए कर दिया था कि उस ईमानदार अफसर ने, एक ऐसे कांग्रेसी पर मुकदमा चलाने की कार्यवाही प्रारम्भ कर दी थी, जिसको पुलिस की अपराध शाखा ने एक लम्बी जांच के बाद दोषी पाया था। चौधरी साहब ने, अपराधियों को संरक्षण देने तथा ईमानदार अफसर के नैतिक बल को कमजोर करके, कांग्रेस-दल और अंततः समाज में, असामाजिक तत्वों को बढ़ावा देने के कार्य से क्षुब्ध होकर, सन् 1962 में मंत्रि-पद से इस्तीफा दे दिया। (देखिये अन्याय, शोषण और भ्रष्टाचार विरोधी योद्धा, पृष्ठ 31)

यदि, चौधरी साहब के त्यागपत्र से कांग्रेस नेतृत्व ने कुछ सीखा होता तो आज कांग्रेस में जो असामाजिक तत्वों की घुसपैठ हो चुकी है और जिसको स्वयं कांग्रेसजन महसूस करते हैं, वह न हुई होती और न यह बीमारी दूसरे दलों को लगी होती। लेकिन कांग्रेस-नेतृत्व ने न तो नैतिक मूल्यों को रक्षा करते हुए प्रशासन चलाने की बात सोची और न लोकतांत्रिक मूल्यों को बनाये रखा। इसी कारण से कांग्रेस दिनोंदिन अलोकप्रिय होती गयी। सन् 1959 में जब चौधरी साहब का त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया गया, उस समय उत्तर-प्रदेश के कांग्रेस के महत्वपूर्ण समाचार-पत्र 'नेशनल हेराल्ड' ने लिखा था–'श्री चरण सिंह का त्याग-पत्र व्यक्तिगत तथा संस्था दोनों के लिए एक दुखान्त घटना है। उनका निकाला जाना उत्तर-प्रदेश शासन के लिए बड़ी हानि की बात है। श्री सम्पूर्णानन्द ने भी एक ऐसे साथी को खोया है जो कि योग्य, गम्भीर, परिश्रमी तथा सत्यनिष्ठा के लिए ख्यात है। जब कि ऐसी ख्यातियां आजकल बहुत कम हैं। ऐसे कई मौके आये जब कि उनका श्री चरण सिंह से मतभेद था और उन्होंने नीति सम्बंधी मामलों पर उनकी आलोचना भी की थी। लेकिन फिर भी उनकी उद्देश्य की सचाई, हाथ में लिये कार्यों के बारे में ज्ञान और कर्तव्यनिष्ठा के बारे में कोई शंका होने का प्रश्न ही नहीं उठता।'[1]

कांग्रेस दल-समर्थक अखबार की यह टिप्पणी चौधरी साहब की देशभक्ति, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा और प्रशासनिक कौशल की ओर संकेत करती है और कांग्रेस-नेतृत्व की मूल्यहीनता, अवसरवादिता तथा अपने कार्यकर्ता की योग्यता का समुचित मूल्यांकन न कर पाने की दुर्बलता का परिचय देती है। किसी नेता द्वारा, अपने कार्यकर्ता की योग्यता को न समझ पाना एक क्षम्य भूल मानी जा

1. प्रो. सुखबीर सिंह गोयल, अन्याय, शोषण और भ्रष्टाचार विरोधी योद्धा चौधरी चरण सिंह, पृ. 48

सकती है, किन्तु योग्यता को दर किनार करके, उस पर अनर्गल आरोप थोप देना और उस पर अहमन्यता अथवा जातिवादिता का आरोप लगाना एक राष्ट्रीय अपराध है। अतः यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन कांग्रेस-नेतृत्व का यह कार्य राष्ट्रहित में राष्ट्रीय अपराध का न था। श्री चरण सिंह का कांग्रेसी-नेतृत्व की मनमानी, मूल्यहीनता और लोकहित-विरोधी आचरण से कुंठित होकर त्याग-पत्र देना राष्ट्र के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। चौधरी साहब, स्वयं इस बात का एहसास करते थे कि सैद्धांतिक तथा लोकहित के प्रश्नों पर उनके त्याग-पत्र देने से उनकी ख्याति तो बढ़ती है, उनका राष्ट्रवादी व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है, लेकिन लोक और राष्ट्र का अहित होता है। उनके इस वैचारिक निश्चय और वैयक्तिक सत्यवादिता ने उनको संघर्ष के रास्ते पर बढ़ने के लिए अनुप्रेरित किया और उन पर जातिवादी होने का आरोप लगाने वालों की जातिवादी चेतना को उजागर करने के लए कमर कस के तैयार किया। उनकी यह व्यथा, एक सीमा तक व्यक्तिगत तो थी, लेकिन इससे अधिक वह लोकतांत्रिक भी थी और राष्ट्र के हित में अधिक थी। वह जानते थे कि जातिवादिता ने देश को गुलाम और गरीब बनाया है। वह, यह भी जानते थे कि जातिवादी तत्व चाहे प्रच्छन्न हों अर्थात् पर्दे के पीछे हों अथवा स्पष्ट, उनसे देश का अहित होता है। उनके इस दृढ़ विश्वास ने, उनको भारत के दो शीर्ष नेताओं को पत्र लिखने के लिए बाध्य किया और उन्हें उनके आरोपों का उत्तर देने के लिए विवश कर दिया था। एक सच्चा राष्ट्रवादी व्यक्ति, इसके अतिरिक्त, कर भी क्या सकता है?

श्रीमती इंदिरा गांधी बड़े स्पष्ट शब्दों में चौधरी साहब पर जातिवादी होने का आरोप लगा चुकी थीं। जातिवादी कौन के विश्लेषक का विश्वास है कि चौधरी साहब पर लगाया गया यह आरोप निराधार एवं असत्य है, पर श्रीमती गांधी पर पूर्णतः सत्य है। अतः उसने लिखा है—'हाल ही में हुए विधानसभा चुनावों, खासकर उत्तर-प्रदेश तथा बिहार के चुनावों ने असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया है कि जातिवादी कौन है? कुछ विशेष जातियों के हर स्तर के सरकारी कर्मचारियों के तबादले किये गये। उन्हें अपमानित किया गया, यद्यपि उनकी संख्या नगण्य थी। दूसरी ओर श्रीमती गांधी की जाति के कर्मचारियों तथा अन्य दो-एक जाति के कर्मचारियों पर इंका प्रत्याशियों को चुन कर भेजने के निर्देशन के साथ, पूरी चुनाव व्यवस्था का भार सौंप दिया गया। इसी परिस्थिति के चलते वह बागपत के उन पुलिस अधिकारियों को दंडित नहीं कर पा रही हैं, जिन्होंने ऐसा अकथनीय अपराध किया था, जिसकी भारतीय इतिहास में मिसाल मिलना मुश्किल है। वजह यही थी कि बागपत से श्रीमती गांधी के उम्मीदवार को चुनवाने का श्रेय इन्हीं पुलिस

अधिकारी को है। इस श्रेय को स्वीकार करते हुए स्थानीय कांग्रेस (इ) कार्यकारिणी सदस्य ने, थाने के अन्दर, एक एस. एच. ओ. को फूलमाला पहना कर उसके पैर छुये थे।'

इन पंक्तियों में निहित तथ्यों को, संभवतः जहां तक ज्ञात है, न तो कभी चुनौती दी गयी और न विश्लेषक पर अवमानना का आरोप लगाया गया। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि घटनाएं सत्य हैं और ये राजनीति में जातिवादिता तथा असामाजिकता के प्रवेश की साक्षी देती हैं। बागपत के चौराहे से थाने तक जो बर्बर दृश्य प्रस्तुत हुआ था, उनकी निंदा हर समझदार व्यक्ति ने की थी। चौधरी साहब ने, क्रूरता एवं बर्बरता की शिकार महिला माया, जो उनकी जाति की न थी, के समर्थन तथा सम्मानार्थ अहिंसात्मक आन्दोलन चलाकर अपना विरोध प्रकट किया था और अपमानित महिला को सार्वजनिक रूप में आदर प्रदान किया था। इन पंक्तियों के लेखक ने, बस द्वारा आगरा से अलीगढ़ आते हुए, सादाबाद की महिलाओं का एक जुलूस देखा था, जो बागपत में हुए महिला के अपमान के प्रति, विरोध प्रकट करने के लिए, बरसात में भीगते हुए भी, तहसील कार्यालय की ओर जा रहा था। चौधरी साहब के आन्दोलन तथा विरोध-प्रदर्शन की प्रणाली यही थी कि शांति तथा अनुशासन के साथ, महिलाएं अपनी-अपनी तहसीलों के कार्यालयों पर विरोध प्रकट करें। कांग्रेस के नेताओं की अपेक्षा चौधरी साहब के आन्दोलन का तरीका अधिक लोकतांत्रिक, गैर-जातिवादी और गांधीवादी था।

सन् 1984 में एक स्थानीय पत्रिका 'प्रोव' को दिये एक साक्षात्कार में प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी का आरोप था कि 'हाल में चौधरी चरण सिंह द्वारा केन्द्रीय मंत्रिमंडल में महत्वपूर्ग पद पर रहने के बाद ही राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में जातीयता अत्यंत महत्वपूर्ण हो गयी है।' (जातिवादी कौन : एक विश्लेषण, पृ. 36) लेकिन श्रीमती गांधी की ओर से जहां तक मुझे जानकारी है, ऐसा कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया, जिससे उनके आरोप में निहित सत्य प्रमाणित हो जाता। दूसरी ओर, जातिवादी कौन के विश्लेषक ने, ठोस प्रमाण देकर, यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सन् 1948 से लेकर श्रीमती गांधी के शासनकाल तक, देश की विभिन्न सेवाओं में, उनकी जाति के लोगों का अनुपात अधिक रहा है। 'जातिवादी कौन' के विश्लेषक का कथन है—'पूरे देश में दो-चार-पांच जातियां हैं जो कुल मिलाकर एकाधिकारपूर्वक देश की सामाजिक और राजनीतिक, प्रशासनिक और शैक्षिक सत्ता का उपभोग करती हैं और ब्राह्मण समुदाय इस सत्ता में, यों कहा जाए कि लूट में सर्वाधिक हिस्सा पाते हैं।' (वही, पृष्ठ 39)।

अपने उक्त कथन के समर्थन में, विश्लेषक ने निम्नलिखित तालिका में प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

शीर्षस्थ राजनैतिक एवं प्रशासनिक अधिकारी

पद नाम		कुल संख्या	केवल ब्राह्मणों की संख्या	प्रतिशत
राज्यपाल/उपराज्यपाल		27	13	50 (लगभग)
राज्यपाल तथा उपराज्यपाल के सचिव		24	13	54
केन्द्र के कैबिनेट मंत्री		19	10	53
मंत्रियों के सचिव		49	34	70
राज्यों के मुख्य सचिव		26	14	54
सचिव, अतिरिक्त सचिव, संयुक्तसचिव		500	310 (लगभग)	62
उपकुलपति		98	50	51
सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश		16	9	56
उच्च न्यायालय व अतिरिक्त उच्च न्यायालयों के न्याधीश		330	166	50
राजदूत/उच्चायुक्त		140	58	41.5
सार्वजनिक क्षेत्रों में अधिग्रहीत इकाइयों के प्रमुख (इनमें सभी इकाइयों जिनमें सार्वजनिक निकायों के स्थायी निगम हैं, शामिल हैं)	केन्द्र	158	91	57
	राज्य	17	14	82

इस तालिका से, 'जातिवादी कौन' का कथन सत्य प्रमाणित होता है कि देश की महत्वपूर्ण सेवाओं में शीर्षस्थ ब्राह्मणों की संख्या सर्वाधिक थी। इस संख्या-वृद्धि में, थोड़ा बहुत श्रेय श्रीमती गांधी तथा उनके पूज्य पिताजी को अवश्य जाता है। लगभग चार दशक तक देश पर शासन करने के बाद भी देश का स्थान दुनिया के गरीब देशों में 123वां रहा, इसका दायित्व भी श्रीमती गांधी और उनकी कांग्रेस पर ही है। श्रीमती गांधी ने, लोकसभा का एक चुनाव केवल लोकप्रिय नारे पर जीता था, देश की अनुपमेय सेवाओं पर नहीं। उनका नारा था–'गरीबी हटाओ।' चुनाव जीतने और उनकी सरकार बनने के बाद, गरीबी कितनी हटी, यह सबको विदित है। आज भी, देश के कुछ प्रदेशों में लोग गोबर में से दाने निकाल कर

अथवा चूहे आदि के बिलों को खोद कर अन्न निकालते और खाते हैं। बम्बई आदि बड़े शहरों में, होटलों की झूठन पर झपटने वालों की संख्या भी पर्याप्त है।

जिस प्रकार चुनाव जीतने के उद्देश्य से, देश के शीर्षस्थ नेताओं ने, समाजवादी समाज-स्थापना का आकर्षक एवं प्रगतिशील नारा लगाकर चुनाव जीता और अपने विरोधियों को पीछे धकेल दिया था, उसी प्रकार गरीबी हटाओ के नारे का प्रयोग किया गया था, लेकिन देश का दुर्भाग्य है कि न तो भारत में समाजवादी समाज की स्थापना हुई और न गरीबी हटी। नारा केवल नारा ही रह गया। फलतः नेताओं की लोकप्रियता घटती गई। इस घटती लोकप्रियता को कम करने का एक ही रास्ता था और वह था, देश के बहुसंख्यक समाज की सुख-सुविधाओं को बढ़ाना, देश में सुख-शांति तथा व्यवस्था की स्थापना करना और गौतम, महावीर एवं गांधी के समाज में, अपनी सांस्कृतिक विरासत की रक्षा करते हुए, देश के नागरिकों को आधुनिक युग की चुनौतियों के लिए सक्षम बनाना, किन्तु श्रीमती गांधी ने यह रास्ता न अपना कर तापस चार्वाक एवं मैकयावली का रास्ता अपनाया। तात्पर्य यह है कि लोकतंत्र में लोक समृद्ध और खुशहाल बनाये बिना, हर तरीके से सत्ता में बने रहने का मन बनाया और उस पर काम करना प्रारम्भ कर दिया। जिसने उनको खुश करने वाला रास्ता नहीं अपनाया, उसको राजनीति में नगण्य बनाने का हरसंभव प्रयास किया गया, रास्ता अपनाया गया। चौधरी साहब की गणना उन ईमानदार प्रशासकों, कर्मठ कार्यकर्ताओं और गरीबों के प्रति समर्पित स्वाभिमानी लोगों में थी, जो मंत्रिमंडल से त्याग-पत्र तो दे सकते थे, किन्तु अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की रक्षा के लिए, अथवा मंत्री बने रहने के लालच में, लोक-विरोधी कार्य का विरोध करने से कभी चूक नहीं सकते थे। ऐसे व्यक्ति को, राजनीतिक स्तर पर, मात देना आसान बात न थी, अतः उनको जातिवादी सिद्ध करके, देश के जागरूक नागरिकों एवं समाजवादी विचारों के लोगों में अप्रासंगिक बनाने का प्रयास किया गया, पर बात कुछ बनी नहीं। इतनी बात अवश्य हुई कि अवसरवादी तत्वों से मिलकर वह सरकार बनाने में समर्थ हो गयीं पर चौधरी साहब के स्वाभिमान को तोड़ नहीं पाईं।

प्रायः देखा गया है कि समाज में क्रांति भी होती है और उसकी प्रतिक्रांति भी। तात्पर्य यह है कि समाज में औरों की अपेक्षा अधिक ईमानदार, राष्ट्र तथा समाज के प्रति अधिक निष्ठावान, साधनहीन तथा गरीबों के साथ अधिक संवेदनशील और तिकड़म एवं तोड़-फोड़ की राजनीति से बचने वाले लोग मिलकर सत्ता के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं और सत्ता पलट जाती है। उत्तर-प्रदेश में अप्रैल 1967 को ऐसी ही क्रांति हुई थी, लेकिन थोड़े ही दिन बाद प्रतिक्रांति हो गयी, संविद

सरकार भंग हो गयी। प्रतिक्रांति के लिए आगे आने वाले कई प्रकार के घटक होते हैं, कुछ सत्ता पर अधिकार करने के इच्छुक होते हैं, कुछ सत्ताधारियों से मिलकर मुनाफा कमाने के उत्सुक होते हैं, कुछ सत्ताधारियों से सम्पर्क कायम करके अपने अनेक प्रकार के स्वार्थों को पूरा करने की योजना में लगे होते हैं और कुछ ऐसे दल भी होते हैं, जो भविष्य में सत्ता में आने की मुहिम में पहले औरों के साथ होकर एक सरकार गिराते हैं, फिर दूसरों के साथ मिलकर सरकार बनाते हैं और फिर उसे गिराते हैं। उनका उद्देश्य यह सिद्ध करना होता है कि स्थायी सरकार बनाने तथा चलाने की क्षमता केवल हम में है। चौधरी साहब की संविद सरकार को गिराने में इसी प्रकार के राजनीतिक घटकों द्वारा की गयी प्रतिक्रांति थी और लगभग यही स्थिति, केन्द्र में जनता पार्टी की क्रांति को, प्रतिक्रांति में बदलने की योजना में निहित थी।

श्रीमती इंदिरा गांधी के जीवन के दो भाग हैं—पहला स्वाधीनता पूर्व का और दूसरा स्वाधीनता के बाद का। पहले काल में वह देशभक्त, स्वाधीनता आन्दोलन की कर्मठ कार्यकर्ता तथा बेजोड़ संघर्षशील महिला थीं। दूसरे में, सर्वोच्च सत्ता भोगी पिता की पुत्री, चाटुकारों से घिरी सत्ता की केन्द्र और महत्वाकांक्षी नेता थीं। वह, पंडित मदन मोहन मालवीय जैसे त्यागी, तपस्वी, भारतीय संस्कृति के सच्चे भक्त और लोक हितैषी लोगों से भिन्न, पुरोहिती समाज के आत्मकेन्द्रित लोगों के समान अधिक थीं। विचारवान समाज को वैदिक काल से लेकर, आधुनिक युग तक जिस तरह विरोधी पुरोहिती समाज असुर, राक्षस, अछूत और शूद्र कहकर व हीन प्रमाणित करके अपनी सर्वोच्चता बनाये रखने में अथवा स्वयं को ईश्वर का ठेकेदार सिद्ध करने में लगा रहा, उसी प्रकार श्रीमती गांधी ने सदैव स्वयं को ही सर्वज्ञ, शासन करने के योग्य और भारत-हितैषी सिद्ध कराने का प्रयास किया लेकिन स्थिति इसके भिन्न थी। पंडित मदन मोहन मालवीय का मार्ग इससे पूरी तरह भिन्न था। वह भारतीय संस्कृति एवं धर्माचरण के कट्टर समर्थक ही नहीं, पालनकर्ता भी थे। वह उच्चकोटि के विद्वान्, पंडित तथा शिक्षाविद् भी थे, साथ ही उत्कट देशभक्त एवं विशुद्ध ब्राह्मण थे, पर अछूतों को गले लगाने वाले, बाल्मीकि भाइयों के साथ भोजन करने वाले और देश-प्रेम के लिए त्याग करने वालों का आदर करना भी जानते थे। यदि, वह न होते तो सम्भवतः वृन्दावन में बाल्मीकि भाइयों के साथ भोजन करने वाले महान् देशभक्त राजा महेन्द्र प्रताप को, वहां के गोस्वामी समाज के कुछ कट्टरपंथियों ने मार डाला होता।

उक्त घटना इस प्रकार घटी थी। देशप्रेम और भाईचारे के प्रचार के दौरान राजा साहब ने, वृन्दावन के अछूत कहे जाने वाले समाज के साथ बैठकर, उनके

घर का भोजन करके, सब की समानता का व्यावहारिक आचरण प्रस्तुत किया था। इस पर, वृन्द्रावन का गोस्वामी ब्राह्मण समाज बहुत नाराज हुआ और उसने धमकी दी कि यदि राजा साहब ने अछूतों के साथ भोजन करना जारी रखा तो उनको मार डाला जायेगा। जब तनाव बढ़ता गया तो मालवीय जी वृन्दावन आये। रंगजी के मंदिर में विशाल सभा हुई। उसमें आपने राजा साहब की उत्कट देशभक्ति और समानता के सिद्धांत की प्रशंसा की और गोस्वामी-समाज से राजा-साहब को सम्मान देने का आग्रह किया। तब मामला शांत हुआ। स्वयं भोजन, रहन-सहन की पावनता में कट्टर विश्वास रखने वाले मालवीय जी देशभक्तों, एकता-पोषकों और राष्ट्र के लिए त्याग करने वालों का कितना आदर करते थे, यह बात इस घटना से स्पष्ट हो जाती है। मालवीय जी की देशभक्ति, शिक्षा-प्रेम, आचरणगत पावनता और समतामूलक चेतना की बराबरी शायद ही किसी राजनीतिक नेता में निकले। मालवीय जी ने जो कुछ किया, वह अपने लिए नहीं, राष्ट्र के लिए किया था। वह ब्राह्मण की असली परंपरा के प्रतीक थे और श्रीमती गांधी स्वाधीनता के बाद वाले अपने कार्य-कलापों के आधार पर पतनशील पुरोहिती समाज के अधिक समीप पहुंच जाती हैं।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि मालवीय जी ने, वृन्दावन जाकर राजा साहब के समर्थन में ऐसा क्यों किया, जब कि वह पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे ब्राह्मणों को, उन पात्रों में नहीं खिलाते थे, जिनमें वह स्वयं भोजन किया करते थे (यह बात इस पंक्ति के लेखक को, टण्डन जी ने 1954 में स्वयं बताई थी)। इसका उत्तर स्पष्ट है, यह उनके वैयक्तिक आचरण की आस्था का प्रश्न था और राजा साहब द्वारा किये गये कार्य का समर्थन उनकी राष्ट्रीय भावधारा का प्रतीक था। दूसरे उनको विश्वास था कि राजा साहब का अछूत कहे जाने वाले लोगों के साथ भोजन करना, उनका दिखावा न था, वह उनकी आस्था का प्रमाण था। राजा साहब की एक घटना सुविख्यात है। वह जब द्वारिका गये तो रणछोड़दास के मंदिर में दर्शन के लिए जाने लगे। द्वारपाल ने उनसे उनकी जाति पूछी। उनका उत्तर था–'महतर'। यह सुनकर द्वारपाल ने आदेश दिया, 'तुम मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकते।' राजा साहब बिना दर्शन किये लौट आये। बाद में, मंदिर के पुजारी तथा अन्यों को मालूम हुआ कि वह तो हाथरस के राजा साहब थे। फलतः वे, अच्छी दक्षिणा के लालच में राजा साहब को मनाने गये, लेकिन राजा साहब का उत्तर था कि जहां हर इंसान को मंदिर में नहीं जाने दिया जाता, वहां मैं दर्शन नहीं करता। पुरोहित समाज को, राजा साहब की यह चुनौती थी और यही चुनौती चौधरी साहब ने, आगरा कॉलिज, आगरा के छात्रावास में हरिजन

के हाथों से छुआ भोजन खाकर, अपने उच्च वर्ग के साथियों को दी थी। जो व्यक्ति प्रारम्भ से ही सैद्धांतिक स्तर पर, दिखावे के लिए नहीं, जातिवाद विरोधी था, वह जातिवादी नहीं हो सकता। उन पर जातिवादिता का आरोप एक राजनीतिक चाल थी, उस यथार्थ को निर्मूल करने की योजना थी, जो 1977 में ठोस रूप में प्रकट हो गयी थी अथवा यों कहिये कि यह पुरोहितों के समान का सा ही एक हथकंडा था। पुरोहितों के धार्मिक आडम्बरों को चुनौती देने वालों को वे लोग शूद्र कहते थे, श्रीमती गांधी ने अपनी सत्ता को चुनौती देने वाले, शक्तिशाली, लोकप्रिय और ईमानदार राजनीतिज्ञों को अवसरवादी तथा जातिवादी कहला दिया था। देश का जमींदार वर्ग और उद्योगपति भी इस नतीजे पर पहुंच गये थे कि देश के सबसे बड़े प्रदेश के किसानों को, जमींदारों एवं साहूकारों के आर्थिक पंजों से बाहर निकालने के बाद श्री चरण सिंह की लोकप्रियता उस बुलन्दी पर पहुंच गयी है कि उनके नेतृत्व को खतरा पैदा हो सकता है। डॉ. सम्पूर्णानन्द के मुख्यमंत्री काल में बिड़ला जी की एलम्यूनियम फैक्ट्री को उत्पादन लागत से भी कम दर पर बिजली देने का विरोध करने तथा पंडितजी की सहकारी खेती के सिद्धांत वाले प्रस्ताव की कटु आलोचना करने के बाद तो यह बात भली प्रकार प्रमाणित हो गयी थी। यही कारण है कि उन पर अर्थात् चौधरी साहब पर बेईमानी, प्रशासनिक अयोग्यता, फिजूल खर्ची, समस्याओं के समाधान में अक्षम रहने आदि आरोप लगाना बहुत कठिन काम था। केवल एक ही आरोप लगाने की गुंजाइश थी, वह था जातिवादी होने का। अतः पंडित जवाहरलाल नेहरु जैसे विचारवान व्यक्ति ने भी जाटपन का आरोप लगा दिया। श्रीमती गांधी ने, केवल अपनी सत्ता बचाये रखने के सौदे में मदद करने वाले, सरमायेदारों के प्रबल समर्थक चन्द्रभानु गुप्त को, उत्तर प्रदेश की बागडोर सोंपकर, देश की बहुत बड़ी जनसंख्या की आर्थिक प्रगति को अवरुद्ध कर दिया था। खाद्यान्न के प्रचुर मात्रा में उत्पादन पर ताला ठोंक दिया था और प्रशासन में भ्रष्टाचार पनपने के द्वार खोल दिये थे। इस सबके अतिरिक्त राजनीतिक ईमानदारी और वचन-निर्वाह के पवित्र जीवन-मूल्य पर कीचड़ भी फेंक दी थी और यह सिद्ध भी कर दिया कि किसान-पुत्र अपने वायदे के पक्के होते हैं और पेशेवर राजनीतिज्ञ, सरमायेदार एवं उनके अवसरवादी प्रतिनिधि केवल अपना भला देखते हैं, अपने फायदे की चिंता करते हैं, देश के हित की उनको चिंता नहीं होती, उनके लोकहितमूलक कथन केवल अपनी असलियत को छिपाने के लिए मुखौटे होते हैं। इस मुखौटे को तत्कालीन राजनेता भी, एक बड़ी सीमा तक लगाये हुए थे।

अपने प्रधानमंत्री काल चौधरी साहब ने एशियाड की स्वीकृति नहीं दी,

श्रीमती गांधी ने, इस पर साठ करोड़ से अधिक धनराशि खर्च करके, नई-दिल्ली में यह आयोजन कराया। यह स्वीकार किया जा सकता है कि इससे भारत का नाम विदेशों में पहुंचा, विदेशों के खिलाड़ी यहां आये। कुछ दिनों तक दिल्ली में चहल-पहल रही, मंत्रियों को अपनी शान-शौकत दिखाने का अवसर मिला, नेताओं के नाम पर कुछ भवन बन गये, लेकिन इससे देश की गरीब और भूखी जनता को, एक बार भी, मुस्कराने का मौका नहीं मिला, एक दिन भी उनकी झोपड़ियों में अच्छा भोजन नहीं पहुंचा, यहां तक कि दिल्ली के फुटपाथों पर सोने वाले लोगों को एक रात के लिए भी उन भवनों तथा स्टेडियमों की छतों के नीचे सोने का अवसर नहीं मिला, जो नेताओं के नाम पर खड़े किये गये थे। यही नहीं, राजधानी दिल्ली के ही लाखों गरीब लोग, अपने बच्चों के खेलने के लिए शायद ही कुछ गेंदे खरीद पाये हों। खेल-गांव के कमरों और सड़कों पर मर्करी लैम्प जले और हजारों की संख्या में जले, लेकिन दिल्ली की ही हजारों झोपड़ियों में शायद ही कोई मर्करी लैम्प जला हो। चौधरी साहब चाहते थे भूखे, नंगे और प्यासे लोगों के लिए रोटी, पानी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था करना। लेकिन उंचे स्तर के घर में जन्मे नेताओं को, गरीबों के दर्द और दुःख का ज्ञान ही नहीं था, मौखिक सहानुभूति अवश्य थी।

यदि एशियाड पर खर्च किया गया सारा पैसा, देश के लाखों गांवों में रहने वालों को शुद्ध पेयजल उपलब्ध कराने पर खर्च किया गया होता, जिनको स्वाधीनता के तीन-दशक बाद भी पीने को साफ पानी नहीं मिला है अथवा जहां जीवन की सामान्य सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं हो पाई हैं, तो कांग्रेस की लोकप्रियता कम न हुई होती। कांग्रेसी-नेताओं की इस मुखौटाबाजी में कांग्रेस की नाव डूबती चली गई। जोड़-तोड़ से सरकारें बनाना, प्रतिपक्षी लोगों को बदनाम करके तथा देश की भोली-भाली जनता को गुमराह करके, कुछ दिन शासन में बने रहना, एक साधारण तथा तात्कालिक महत्व की बात होती है और जनता के सांस्कृतिक स्तर को उंचा उठाना, उसके आर्थिक स्तर को समृद्धता प्रदान करना, उसमें प्रचलित साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों को निकाल कर एकता की भावना जगाना, सामाजिक विषमताओं को मिटाकर उसको देश तथा समाज के साथ प्रतिबद्ध बनाना दूसरी बात है। इस दूसरी बात से शासकों के नाम अमर और कालजयी होते हैं, बुद्ध, महावीर और दयानन्द शासक न थे, लेकिन वे आज भी जनता के हृदय में विराजमान हैं। गांधी, रवीन्द्र, तिलक, सरदार भगत सिंह, आजाद, बिस्मिल में से कोई न राजा था, न मंत्री और न किसी देश का प्रधानमंत्री, पर वे न सिर्फ भारत में, वरन् विदेशों में भी आदर पाते हैं और इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर उनके नाम

अंकित हैं और सम्भवतः उनकी देशभक्ति, निष्ठा तथा व्यक्तित्व की महानता के सामने कभी प्रश्न-चिह्न भी न लगे, लेकिन यह बात, भारत के मुखौटेबाज लोगों के लिए नहीं कही जा सकती।

देशभक्ति और जातीय समता का मुखौटा पहन कर श्रीमती गांधी ने चौधरी साहब पर जातिवाद फैलाने का जो आरोप लगाया था, उसका 'जातिवादी कौन' के विश्लेषक ने तथ्य परक उत्तर दिया है कि अपनी जाति के व्यक्तियों को, चौधरी साहब ने उंचे पदों पर नहीं बिठाया था वरन् यह काम स्वयं श्रीमती गांधी के पारिवारिक शासन के दौरान ही हुआ था।

श्रीमती गांधी के शासन में, उनकी जाति के कितने लोग, देश के प्रशासन पर काबिज थे? इसका उपमान, भारत के प्रशासन में, केवल मुस्लिम-काल में तो मिल सकता है। देश के प्रशासन में आये भ्रष्टाचार का एक कारण यह भी हो सकता है। ऊपर का अधिकारी, अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से, जब कोई पक्षपातपूर्ण अथवा अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्य कराने का संकेत करता है, तो प्रशासन में शिथिलता, अयोग्यता और भ्रष्टाचार का प्रवेश हो जाता है। इस बात के, अनेक प्रमाण खोजने पर मिल सकते हैं। इस जातिवाद की बुराई पर, चौधरी साहब की टिप्पणी है–'जाति प्रथा के कारण ही भारत के विभिन्न धार्मिक समूह, सामाजिक और राजनैतिक रूप से एक दूसरे के समीप नहीं आ सके तथा एक सुदृढ़ समाज का निर्माण नहीं हो सका।'

स्वयं अपने प्रशासनिक कार्यों तथा आचरण में, चौधरी साहब ने हमेशा योग्यता, ईमानदारी, कार्यकुशलता और दृढ़ व्यक्तित्व के लोगों को प्रश्रय दिया, अपनी जाति के लोगों को नहीं। वह चाहे श्री जे. एन. चतुर्वेदी रहे हों अथवा श्री शरत्चन्द्र मिश्र जैसे योग्य, निहायत ईमानदार अधिकारी हों, चाहे श्री सत्यप्रकाश मालवीय जैसे निष्ठावान देशभक्त, जातीय संकीर्णता से कोसों दूर रहने वाले राजनीतिक नेता और अच्छे इंसान हों। श्रीमती गांधी और चौधरी साहब के व्यक्तित्व का यही अन्तर है।

'जातिवादी कौन' का विश्लेषक कहता है–'गृह सचिव तथा दो को छोड़कर दिल्ली स्तर के सभी आठ पुलिस संगठनों के प्रमुख तथा अधिकतर सभी विधि-अधिकारी आदि ब्राह्मण रहे। और केन्द्र द्वारा स्थापित और संचालित जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय के 187 में विशेष 95 यानी 51 प्रतिशत एक समुदाय के यानी ब्राह्मण हैं।' (जातिवादी कौन, पृष्ठ 41)

देश के सबसे बड़े राज्य, उत्तर-प्रदेश में, सचिव/अतिरिक्त सचिव/संयुक्त सचिव/उपसचिव/एवं समान पद, अध्यक्ष/आयुक्त/संचालक/उपाध्यक्ष/अतिरिक्त

आयुक्त/संयुक्त आयुक्त/संयुक्त संचालक/उप-आयुक्त/उपसंचालक, अपर पुलिस महानिरीक्षक/पुलिस महानिरीक्षक/अतिरिक्त पुलिस महानिरीक्षक/उप महानिरीक्षक, प्रशासकीय अधिकारी/प्रमुख प्रशासक/मुख्य महालेखाकार/अतिरिक्त महालेखाकार, जिला मजिस्ट्रेट/जिलाधिकारी/पुलिस अधीक्षक/पुलिस अधीक्षक अपराध अनुसंधान शाखा, जिला चिकित्सा अधिकारी आदि स्थानों पर ब्राह्मणों की संख्या जो किसी में 57 प्रतिशत से कम नहीं है, केवल प्रथम में 54 प्रतिशत है। (देखें, जातिवादी कौन, पृष्ठ 41)

कांग्रेस दल की सरकारों तथा नेताओं का पिछड़ी जातियों के प्रति कितना लगाव था, उसका पर्दाफाश करते हुए 'जातिवादी कौन' पुस्तक का विश्लेषक कहता है–'कुल 114 में मात्र उत्तर-प्रदेश में एक या दो से अधिक जिला मजिस्ट्रेट अथवा पुलिस अधीक्षक पिछड़ी जातियों में से थे, जो कि कुल आबादी के 50 प्रतिशत से अधिक हैं, (इनमें हिन्दू तथा मुसलमान दोनों हैं) वही, पृष्ठ 42)। इस स्थिति का कारण एक ही है और वह है नेताओं द्वारा संकीर्ण साम्प्रदायिक आचरण तथा पक्षपातपूर्ण संरक्षण। इसका रूप लोकसभा के टिकटों के वितरण में भी देखा गया है। 'जातिवादी कौन' का विश्लेषणकर्ता सन् 1952 से लेकर 1980 तक की सूची प्रस्तुत करता है। वह इस प्रकार है–

संसद में ब्राह्मणों का प्रतिशत

लोकसभा	1952	1957	1962	1967	1971	1977	1980
ब्राह्मणों का	173/411	230/490	210/510	192/523	178/523	136/542	190/530
प्रतिशत	35	47	41	37	34	25	36
अनुसूचित जा. और अनु. जनजातियों को छोड़कर आबादी का	43	61	53	48	44	32	48

राज्य सभा	'52	'57	'60	'64	'68	'70	'74	'78	'80
	216	232	236	238	230	238	240	245	244
ब्राह्मण का प्रतिशत	10	108	115	102	104	113	112	84	89
कुल संख्या	27	47	49	43	45	50	47	34	36

यह बात सभी जानते हैं कि राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन दलीय बहुमत के आधार पर होता है और दल के नेता की प्रत्याशियों के नामांकन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः विश्लेषक की दृष्टि में, राज्यसभा में, ब्राह्मण जाति के लोगों की अधिकता श्रीमती गांधी के कारण थी और 1977 में जब वह सत्ता में न थीं, घटकर कम हो गयी। विश्लेषक का कथन तो यहां तक है कि प्रथम लोकसभा में ब्राह्मणों का प्रतिशत बहुत उंचा था यानी 35 था और 1957 तथा 1962 में बढ़कर 47 तथा 41 हो गया। इसके लिए, विश्लेषक पंडित नेहरु को उत्तरदायी मानता है। (देखिये जातिवादी कौन, पृष्ठ 44) ऐसा प्रतीत होता है कि पंडित जी जैसे विद्वान, विचारक, भारतीयता के प्रतीक और विश्व में प्रख्यात दार्शनिक की दृष्टि भी सजातीय भाइयों पर ही जाकर टिकी। देश के अन्य विद्वानों तथा देशभक्तों को दुर्भाग्य से यह अवसर मिल नहीं पाया।

केन्द्र और उत्तर-प्रदेश में सत्ता के उंचे आसनों पर बैठे ब्राह्मणों के जातीय लगाव का एक प्रमाण 'जातिवादी कौन : एक विश्लेषण' पुस्तक और प्रस्तुत करती है–'उत्तर प्रदेश के विधान मंडल के मई7जून 1980 के आम-चुनाव में ब्राह्मणों को, जिनका आबादी में भाग केवल 9 प्रतिशत है, 120 टिकट प्राप्त हुए, जबकि हिन्दुओं की अन्य पिछड़ी जातियों ने, जो कुल मिलाकर आबादी का 45 प्रतिशत है, केवल 26 टिकटें प्राप्त कीं।' (जातिवादी कौन, पृष्ठ 44)। यह शब्द इस बात के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि देश में, ब्राह्मणवाद का बोलबाला था और प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में, श्रीमती गांधी के चाटुकार, उनके तथा अपने चहेतों को ही बहुमत के साथ आगे बढ़ा रहे थे, लेकिन उनको अपना दोष और देश की दुर्बलता का एहसास नहीं हो रहा था। यही नहीं, औरों पर तरह-तरह के आरोप लगाकर उनको तोड़ा जा रहा था। देश के उंचे स्थानों पर बैठे लोगों की नसों में दौड़ते जातीयतावाद पर टिप्पणी करते हुए, अपनी पुस्तक 'नाइनटीन एट्टी फोर' के लेखक जार्ज आरबेल ने लिखा था–'सभी भारतीय बराबर हैं, परन्तु कुछ भारतीय विशेषकर ब्राह्मण, दूसरों की अपेक्षा अधिक बराबर हैं। इस बराबरी के लिए कौन जिम्मेदार है? (जातिवादी कौन, पृष्ठ 44)।

अपनी जाति के लोगों को टिकटें देने से भी अधिक भयंकर जातीय पक्षपात का प्रमाण उत्तर-प्रदेश में ही मिलता है। (देखें 'जातिवादी कौन, पृष्ठ 44)। इस पृष्ठ पर कहा गया है कि 'हाल ही में प्राथमिक को-ऑपरेटिव सोसाइटियों के अध्यक्षों तथा प्रशासकों का कार्यकाल उत्तर-प्रदेश में समाप्त होने को है। चुनाव करवाने की बजाए राज्य-सरकार ने मनोनयन को ठीक समझा। आज की तारीख,

जब तक पुस्तिका प्रेस में जाती है, 8247 अध्यक्षों में से 7100 अध्यक्ष मनोनीत किये जा चुके हैं। 7100 मनोनीत अध्यक्षों में से 50 प्रतिशत ब्राह्मण हैं। कौन जातिवादी है? कृपया क्या श्रीमती श्रीमती गांधी उत्तर देंगी?' (जातिवादी कौन, पृष्ठ 44-45)। सम्भवतः उत्तर देने के लिए श्रीमती गांधी के पास समय न था।

उत्तर-प्रदेश की सरकार द्वारा अध्यक्षों तथा प्रशासकों का चुनाव न कराके मनोनयन का सहारा लेना पहले तो लोकतंत्र पर हमला है, दूसरे जनता के संवैधानिक अधिकारों का मखौल उड़ाना है। इससे सरकार की लोकतांत्रिक मनोवृत्ति का नहीं, तानाशाही का आभास मिलता है। यदि उसने सभी वर्गों अथवा जातियों के लोगों को भी मनोनीत करने की उदारता दिखाई होती, तो उसका दोष एक सीमा तक कम हो सकता था, पर 50 प्रतिशत ब्राह्मणों को मनोनीत करना तो जातीय संकीर्णता का स्पष्ट प्रमाण है और लोकतंत्र का गला घोंटना ही है। ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों की गणना, लोकतंत्र-समर्थकों में, नहीं की जा सकती।

'जातिवादी कौन' पुस्तिका के लेखक ने एक सूचना और भी दी है कि सन् 1937 से 1967 तक के काल में, कांग्रेस की कई सरकारों ने, प्रदेश के मंत्रिमंडलों में कुर्मी जाति को कोई स्थान नहीं दिया, हालांकि प्रदेश में इस जाति की संख्या क्रमशः 3.5 प्रतिशत थी। जहां तक 8.5 प्रतिशत यादवों का प्रश्न है, उनको 1937 से 1957 तक कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिला, केवल 1958 से 1962 तक एक यादव उपमंत्री अवश्य रहे (देखें, जातिवादी कौन, पृष्ठ 45)। ये तथ्य भी इस बात की ओर संकेत करते हैं कि कांग्रेस के ब्राह्मण मुख्यमंत्रियों ने मंत्रिमंडल-गठन के समय, जातीय समीकरण अथवा लोकतंत्र के मूल्यों की ओर ध्यान नहीं दिया। इससे क्या यह संकेत नहीं मिलता कि वे जातिवादी संकीर्णता से ऊपर न उठे। इसके ठीक विपरीत, आचरण चौधरी चरण सिंह का था। आपने सन् 1967 में मंत्रिमंडल बनाते समय दो यादवों और कुर्मी को कैबिनेट मंत्री बनाया था और अन्य पिछड़ी जातियों को भी नई सरकार में स्थान दिया था (वही, पृष्ठ 45)। इन दोनों तथ्यों से स्पष्ट होता है कि पं. नेहरू और श्रीमती इंदिरा गांधी की कांग्रेस-सरकार में कांग्रेस मुख्यमंत्रियों का कार्य जातीयता के घेरे में बंद था, श्री चरण सिंह ने जातीयता के घेरे को तोड़कर नई परम्परा का प्रवर्तन किया था। (व्यक्तियों के नामों के लिए विधान-सभा सचिवालय, उत्तर-प्रदेश, लखनऊ द्वारा 30 सितम्बर 1988 को प्रकाशित पुस्तक, उत्तर प्रदेश में मंत्रिमंडलों का गठन, जनवरी 1921 से सितम्बर 1988, पृष्ठ संख्या 54 से 60 तक देखें)।

'जातिवादी कौन' पुस्तक से एक सूचना और मिलती है—'1971-73 में पंडित कमलापति त्रिपाठी की अध्यक्षता वाली सरकार में कैबिनेट तथा राज्यमंत्री

30 थे, जिनमें से 15 यानी 50 प्रतिशत ब्राह्मण जाति के थे।' (वही, पृष्ठ 45) इसका तात्पर्य यह है कि चौधरी चरण सिंह ने मंत्रिमंडल के गठन में जो परम्परा डाली थी, उसकी त्रिपाठी जी ने धज्जियां उड़ाकर जातीय संकीर्णता के शिकंजे में प्रशासन को जकड़ दिया था। इतने पर भी, स्वयं को देशभक्त, लोकतंत्र का संरक्षक, भारतीय संस्कृति का सम्पोषक कहलाने का दावा किया गया। इनके राजनीतिक आडम्बर और पुरोहितों के धार्मिक मुखौटेबाजी में क्या कोई अंतर है? तटस्थ दृष्टि से देखने पर, नतीजा यही निकलता है कि दोनों का रास्ता संकीर्णता एवं स्वार्थ की कीचड़ से भरा था। यही कारण है कि देश में सांस्कृतिक मूल्यों का पराभव हुआ, सामाजिक व्यवस्था खंड-खंड हुई, राजनीति में असामाजिक तत्वों का समावेश हुआ, सरकारी कार्यालय भ्रष्टाचार के अड्डे बने, घोटालों की संस्कृति बलवती हुई, कांग्रेस ने चुनाव के दंगल में, गुंडों, कातिलों और आतंकवादियों के साथ गठजोड़ रखने वालों को उतारा। (यदि आप नाम जानना चाहते हैं तो 'धर्मयुग' 10 फरवरी से 15 फरवरी 1993 में रमेश निर्मल का लेख पढ़ लें।) इसका श्रीगणेश बहुत कुछ श्रीमती इंदिरा जी की कांग्रेस से हुआ और फिर लगभग प्रत्येक दल का यह प्रमुख अंग बन ग्या।

जातिवादी संकीर्णता की अवैध संतान है—धार्मिक आडम्बर और उसके नाम पर होने वाला मंदिर-मस्जिद विषयक संघर्ष। श्रीमती गांधी और उनके पुत्र स्वर्गीय राजीव गांधी को ही इस बात का श्रेय दिया जायेगा कि उन्होंने पंजाब में अकालियों को सत्ता से बाहर रखने की योजना में धर्म को प्रश्रय दिया अर्थात् भिंडरावाला से गठबंधन किया। उसको प्रशासन में हस्तक्षेप करने की इतनी स्वाधीनता प्रदान की गयी कि वह बिना लाइसेंस के हथियार लेकर दिल्ली आये। जब उसके आगमन की ओर श्री अटल बिहारी वाजपेयी तथा चौधरी साहब ने श्रीमती गांधी का ध्यान आकर्षित किया, फिर भी कोई कदम नहीं उठाया गया। उसको एक महान् धार्मिक नेता कहकर बढ़ावा दिया गया और उन्होंने जब अपना नाजायज दबाव बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया तो अमृतसर के गुरद्वारे पर सैनिक कार्यवाही कराके, एक जिंदादिल, संघर्षशील, आक्रान्ताओं की क्रूरता का सामना करने में विचलित न होने वाली जाति को शत्रु बना लिया और 1984 के दंगों में जो कुछ हुआ, वह तो जघन्य जातीय विरोध का प्रमाण ही है। 'दैनिक जागरण' (मेरठ) में प्रकाशित नीलम महाजन सिंह के लेख में स्पष्ट रूप से 1984 के दंगों में सैकड़ों सिख महिलाओं को विधवापन के अभिशाप का दण्ड देने का दायित्व कांग्रेस हाई कमान और उसके चाटुकारों पर डाला गया है। चौधरी साहब ने, ऐसा जघन्य नीचतापूर्ण जातीय विद्वेष का प्रतीक और पंजाब को आतंकवाद के हवाले कर देने का काम,

कभी नहीं किया। इसका श्रेय सिर्फ कांग्रेस को है।

इसके विपरीत वह काम ऐसा करते थे कि सांप मर जाए पर लाठी न टूटे। चौधरी साहब ने, एक बार कहा था कि खालिस्तान का नारा देने वाले एक सिख का मुंह बंद करने के लिए उन्होंने श्री बादल को बुलाया था और उनसे कहा कि खालिस्तान की बात करने वाले अपने सिरफिरे सिख भाई को चुप करा दो, अन्यथा उनको यावज्जीवन जेल में सड़ना पड़ जायेगा। उसके बाद नारा गायब हो गया। एक कुशल प्रशासक का यह तरीका था। आज प्रायः यह कहा जाने लगा है कि कश्मीर में आतंकवाद को जन्म देने का कारण एक दल विशेष, अर्थात् कांग्रेस की अपनी सरकारें बनाने का लालच रहा है। कांग्रेस ने कभी इस बात को सहन नहीं किया कि किसी प्रदेश में गैर-कांग्रेसी सरकार बने। चौधरी साहब ने, न तो अपना दलीय शासन स्थापित करने के लिए और न अपने जातीय विद्वेष को शांत-करने के लिए, कोई ऐसा कार्य किया, जिससे देश की सुरक्षा खतरे में पड़ी हो।

कुछ लोगों ने, विशेषतः कांग्रेस के तत्कालीन नेताओं ने चौधरी साहब द्वारा, कांग्रेस छोड़कर, विपक्ष में बैठने और फिर कांग्रेस-सरकार को गिराने के कार्य को बड़ा अपराध मान लिया और उसके पीछे छिपे लोकहित को नहीं देखा और न देखा बड़े नेताओं के स्वार्थ तथा वायदा-खिलाफी के दोष को। यथार्थ में, श्रीमती गांधी ही नहीं, पंडित नेहरु के समय से ही यह धारणा बन गयी थी कि केन्द्र तथा देश के प्रत्येक प्रदेश में, सरकार कांग्रेस की ही बननी चाहिए। यदि, जनता प्रसन्नतापूर्वक कांग्रेस की सरकारें बनाती, तो किसी को कोई परेशानी नहीं होती। लेकिन अधिकांश कांग्रेसियों ने लोक-सेवा, जनहित और राष्ट्र के विकास के आधार पर, जनता के मत पाने की चिंता न करके, तोड़फोड़, अनावश्यक तथा लोकहित विरोधी गठबंधनों द्वारा सत्ता पर काबिज होने की नीति बना ली थी। इसी का फल यह हुआ है कि कई राज्यों से कांग्रेस साफ हो गयी, केन्द्र में भी अल्पमत में आ गयी। यह कांग्रेस का भटकाव था। जो कांग्रेस लोगों के गले का हार थी, वह अलोकप्रिय बन जाए, इसमें दोष केवल कांग्रेस जनों का ही था। उसमें, जिन अवसरवादी, स्वार्थ-केन्द्रित, असामाजिक मनोवृत्ति और सत्ता-लोलुप लोगों ने घुसपैठ कर ली थी, उसके कारण कांग्रेस गिरावट की ओर चलती गयी। कांग्रेस-नेता तथा उनके तथाकथित अनुयायियों ने, यह नहीं समझा कि लोकहित का काम करने वालों के गलों में फूलों की मालायें पड़ी हैं और तिकड़म से शासन करने वालों पर धूल पड़ती है। कुछ समय तक, अवसरवादियों का आदर भी हो जाता है, पर उनका अंतिम स्थान सड़क पर ही होता है। यदि, इस सत्य को अपना

कर राष्ट्रहित के कार्यों पर कांग्रेस-नेता एवं देश के कुछ अन्य लोग प्राणपण से जुटे हुए होते, तो उनको माफिया लोगों, चोरों तथा असामाजिक तत्वों की नाव पर बैठकर चुनाव की वैतरणी पार करने की योजना का सहारा न लेना पड़ता। अपने दोषों पर पर्दा डालकर, अपने प्रतिद्वंद्वियों पर उल्टा आरोपण करना कांग्रेसी नेताओं की और उनके चाटुकारों की संस्कृति बन गई थी। इसी संस्कृति का परिणाम है चौधरी साहब जैसे अनेक नेताओं पर जातिवादी होने का आरोप लगाया गया।

चौधरी साहब महर्षि दयानन्द के अनुयायी थी। महर्षि स्वयं ब्राह्मण थे, लेकिन वह जातीय दुर्बलता के शिकार न थे, इसलिए कि वह जातिवादिता को राष्ट्र के लिए घातक मानते थे। वह ढोंग और आडम्बर प्रिय भी न थे। कांग्रेस के नेताओं की तरह उनके पास दो जबानें भी न थीं। उनके कथन और कर्म में एकता थी। वह देश को राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से गुलाम बनाने वाले अंग्रेजों के जितने विरोधी थे, उतने ही देश में जातीय संकीर्णता के जन्मदाता और पोषक संकीर्ण ब्राह्मण-पुरोहितों के भी विरोधी थे। यही कारण है कि गौतम-बुद्ध तथा महावीर स्वामी को शूद्र कहने वाले संकीर्ण-ब्राह्मणों ने, महर्षि को नास्तिक कहना प्रारम्भ कर दिया था। यथार्थ में, न तो महर्षि नास्तिक थे, न देश की भोली-भाली जनता को, धर्म के आडम्बरों में जकड़ कर लूटने के पक्ष में थे। वह इंसान के हितैषी थे और उसको संकीर्ण पुरोहितों-ब्राह्मण समाज द्वारा फैलाये गये अंधविश्वासों से बाहर निकाल कर, सच्चे धर्म और ईश्वर का आराधक बनाने के पक्षपाती थे। उनके धार्मिक तथा सामाजिक विचारों का गहरा प्रभाव चौधरी साहब पर पड़ा था। यह केवल बौद्धिक या वैचारिक न था, वरन् वह उनके कर्म का अभिन्न अंग था। फ्रांस की राजक्रांति से पूर्व योरोप के अन्य देशों के समान, फ्रांस की जनता भी चर्च के आर्थिक तथा धार्मिक दबाव से आक्रान्त थी। उस समय, वहां के क्रांतिकारी विचारक बोल्तेयर ने कहा था–'ईश्वर अपने को प्रकृति और मानव-हृदय में अभिव्यक्त करता है, बाईबिल और चर्च में नहीं'[1]। इसी तरह कहा जा सकता है कि भारत के पुरोहित समाज की तरह चौधरी साहब ईश्वर को मंदिरों तथा पुरोहितों की पोथियों में नहीं मानते थे। वरन् वह ईश्वर का अस्तित्व मानव-हृदय में वर्तमान लोक-कल्याण के विचार में माना करते थे। साथ ही, वह देश के गरीबों तथा साधनहीन इंसानों का हित करना ही सच्ची ईश-आराधना तथा पूजापाठ मानते थे।

बोल्तेयर की तरह, चौधरी साहब यह भी मानते थे कि 'हमारे सम्मान

1. लालबहादुर वर्मा, योरोप का इतिहास, भाग-2, पृष्ठ 8

का पात्र वह है जो हमारे मस्तिष्क पर सच्चाई की शक्ति से प्रभाव डालता है, वह नहीं जो हिंसा अर्थात् बल प्रयोग के माध्यम से प्रभाव स्थापित करता है।' महर्षि दयानन्द तथा महात्मा गांधी ने, सच्चाई की शक्ति से उनको प्रभावित किया था। अतः वह उनके आजीवन भक्त बने रहे। दूसरी ओर, कथन और कर्म में अंतर करने वाले नेताओं ने उनको कभी भी प्रभावित नहीं किया। चौधरी साहब को, उनके कथनों और कार्यों में राजनीतिक कौशल अधिक नजर आया, देश की गरीबी तथा अशिक्षा, के निवारण की निष्ठा कम। आज का निष्पक्ष विश्लेषक एवं कांग्रेसी प्रोपोगण्डा से मुक्त विचारक, चौधरी साहब के निष्कर्षों से असहमत न होगा। यदि कांग्रेसी-नेतृत्व जातीय संकीर्णता, सत्तालोलुपता, देश में एक मात्र कांग्रेस शासन का इच्छुक, पार्टी में आंतरिक लोकतंत्र का संहारक और दल तथा राष्ट्र के ऊपर अपने व्यक्तित्व-विधान का अभिलाषी न रहा होता तो चीन की भांति, अब तक देश से, गरीबी, प्राकृतिक प्रकोप विदा हो गये होते और अनेक राजनीतिक प्रश्नों पर देश को विदेशों के सामने घुटने न टेकने पड़ते। चौधरी साहब के भीतर बैठा देशभक्त विचारक, कांग्रेस के उच्च नेताओं के कथन एवं कर्म के विरोधाभास को, सहन करने में असमर्थ था। उन्होंने, अपने व्यक्तिगत हित, राजनीतिक सत्ता और अपने विचारों की मादकता में डूबे रहने वाले व्यक्तित्व को कभी महत्व नहीं दिया। यही कारण है कि न तो आपने, अपने विचारों के साथ समझौता किया और न लोकहित विरोधी विचारों को विना आलोचना किये जाने दिया।

यथार्थ में कांग्रेस की गाड़ी लोक-कल्याण के मार्ग से हटकर वैयक्तिक तथा जातिवादी संकीर्णता के दल-दल में फंस गई थी और नेताओं ने, विशेषतः उनके युवा एवं महत्वाकांक्षी अनुयायियों ने, दल-दल में फंसी गाड़ी को त्याग-तपस्या, लोकहित, देशानुराग और राष्ट्र के प्रति बलिदानी तेवरों से निकालने का मार्ग न चुनकर मार्ग चुना राजनीतिक जोड़-तोड़ का, फूट डालो और राज करो वाली नीति का, विरोधी विचार के नेताओं के व्यक्तित्व हनन का, उनको देश-द्रोही तक कहने का, स्वयं को राष्ट्र कहलवा के लोगों में भय और अंधभक्ति को बढ़ावा देने का और हर कीमत पर सत्ता में बने रहने का। इसका नतीजा यह निकला कि दल की साख गिरती गई, प्रशासन में शिथिलता आती गयी, भ्रष्टाचार का जो दानव स्वाधीनता-आगमन के साथ सो गया था, फिर से जाग उठा, रिश्वतखोरी को सुविधा-शुल्क का नाम दे दिया गया, राजनीतिक दल उद्योगपतियों के आर्थिक गुलाम होते गये, नेताओं के सम्बंध माफिया गिरोहों और आतंकवादियों के साथ हो गये। नेता मालदार होते गये, जनता गरीब होती चली गयी। महंगाई का

राक्षस शक्तिशाली होता गया और जन-जीवन दूभर होता गया। सरकार घोषणा करती रही कि मुद्रास्फीति का प्रतिशत घटता जा रहा है। ऐसी सभी घोषणाएं कागजी साबित होती रहीं। देश को इस स्थिति तक पहुंचाने का दायित्व कांग्रेस ने अल्पकाल के लिए बनी विपक्षी-दलों की सरकारों पर डाल कर अपना दामन साफ सिद्ध करने का प्रयास किया, लेकिन देश की जनता ने, इसको दलीय प्रचार मानकर ठुकरा दिया। यद्यपि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि केन्द्र की जनता पार्टी की सरकार को अलोकप्रिय बनाने का कार्य स्वयं उसके घटकों ने भी किया था। कंझावला के किसानों के साथ, प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई का असहिष्णु एवं अलोकतांत्रिक व्यवहार और देश के पूंजीपतियों के दबाव में आकर, किसानों के एक मात्र नेता चौधरी साहब को केबिनेट से हटाना इसके प्रमाण हैं। कांग्रेस और कांग्रेस से बाहर आये सरमायेदारों के समर्थक नेता हमेशा किसान और गरीबों के विरोधी रहे, यह बात किसान-आन्दोलन के इतिहास से भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है। सार रूप में, यह कहा जा सकता है कि स्वाधीनता के बाद की कांग्रेस पार्टी और उसके नेता, सैद्धांतिक स्तर पर लोकतंत्रवादी थे और व्यावहारिक स्तर पर आत्मकेन्द्रित एवं जातिवादी संकीर्णता के शिकार।

इसके ठीक विपरीत, चौधरी साहब की स्थिति थी। वह अच्छे प्रशासक थे। भ्रष्टाचार के जानी दुश्मन थे। उत्तर-प्रदेश के हजारों पटवारियों के त्यागपत्रों को स्वीकार करके आपने अपनी दृढ़ता तथा भ्रष्टाचार विरोधी नीति का प्रमाण दिया था। जमींदारी उन्मूलन विधेयक पारित कराके तथा योजना को दृढ़तापूर्वक कार्यान्वित कराके अपनी प्रशासनिक निपुणता-दृढ़ता का परिचय दिया था। पुलिस विभाग में भ्रष्ट अधिकारियों को प्रताड़ित तथा शरदचन्द्र मिश्र जैसे योग्य और ईमानदार अधिकारियों को पुरस्कृत करके अपनी निष्पक्षता, जातीय संकीर्णता से मुक्ति एवं योग्यता के सम्मान की प्रवृत्ति को उजागर किया था। आजकल के नेता, घोटालों में शामिल होने की बदनामी के बाद भी तब तक कुर्सी नहीं छोड़ते, जब तक कि कोई उनसे उसे छीन नहीं लेता। दूसरी ओर चौधरी साहब थे कि सैद्धांतिक मसलों पर त्याग-पत्र दे देना उनके लिए इतना ही स्वाभाविक था, जैसे एक कुर्ता उतार कर दूसरा कुर्ता पहन लेना। आपने मार्च 1947, जनवरी 1948, अगस्त 1948, मार्च 1950, जनवरी 1951, नवम्बर 1957, अप्रैल 1959 और अगस्त 1963 में मंत्रिपद से त्यागपत्र दिये। यथार्थ में, आपने मंत्रिपद को भोग-विलास, शान-शौकत और वैभव-संग्रह का माध्यम न मानकर जनसेवा का सुअवसर माना था और जब भी जन-सेवा में बाधा पड़ी, वह पद छोड़कर अलग हो गये। उनके लिए पद महत्वपूर्ण न था, महत्वपूर्ण था लोकहित।

'नेशनल हेरॉल्ड' कांग्रेस का अखबार था। वह पंडित नेहरु के साथ, चौधरी साहब के, कृषि-नीति सम्बंधी वैचारिक मतभेद का आलोचक भी था, पर वह सम्पादकीय दायित्व से अवगत था और अपने विरोधियों की कार्यकुशलता, ईमानदारी और सैद्धांतिक निष्ठा की प्रशंसा करना भी जानता था। इसी अखबार ने 25 दिसम्बर 1966 के अपने सम्पादकीय 'गेम और गैम्बल' (खेल और जुआ) में बड़ी महत्वपूर्ण टिप्पणी की थी। इससे साफ पता चलता है कि कांग्रेस-दल और सरकार में पद योग्यता, देशभक्ति, ईमानदारी, प्रशासकीय कौशल और लोकतांत्रिक निष्ठा के आधार पर न मिलकर जातीयता अथवा व्यक्तिगत सम्बंधों के आधार पर मिला करते थे। इस आरोप के घेरे से श्रीमती इंदिरा गांधी भी बाहर नहीं निकल पातीं। पत्र की टिप्पणी के शब्द देखिये—'इस प्रकार राजनीति एक अनिश्चित, गन्दा, घातक तथा व्यर्थ खेल है। यह स्वाभाविक है कि राजनीतिक जीवन, अस्थिर होता है, जिसे बहुतों को भुगतना पड़ता है। इसके बहुत से उदाहरण हैं। श्री चरण सिंह में काफी गुण हैं, लेकिन उनके बारे में कोई नहीं सोचता, क्योंकि उनके पीछे राज्य की प्रमुख राजनीतिक जातियों, ब्राह्मणों, बनियों, क्षत्रियों या अनुसूचित जातियों की जाति-शक्ति नहीं है (वही, पृष्ठ 51)।

इस उद्धरण से दो बातें स्पष्ट रूप से सामने आती हैं—पहली, कांग्रेस हाईकमाण्ड अपने साथियों अथवा मंत्रिमंडल के सदस्यों का चयन प्रायः सदस्यों की योग्यता, राष्ट्र और समाज के प्रति निष्ठा, उदात्त, जीवन-मूल्यों के साथ प्रतिबद्धता आदि गुणों के आधार पर कम और जातीय-समीपता तथा व्यक्तिगत सम्बंधों के आधार पर अधिक किया करती थी। इसके कुछ अपवाद अवश्य हो सकते हैं। दूसरी ओर चौधरी चरण सिंह का रास्ता इसके बिल्कुल भिन्न था। आपने अपने मंत्रिमंडल में प्रायः कर्तव्यनिष्ठ, स्वच्छ छवि और लोकहित के साथ प्रतिबद्ध लोगों को स्थान दिया और प्रशासन में सदैव योग्य तथा ईमानदार व्यक्ति को बढ़ावा दिया, ऐसे लोगों में चाहे मिश्र हो या चतुर्वेदी और चाहे गूजर एवं वैश्य। एक बात की ओर संकेत उक्त उद्धरण और भी करता है कि उत्तर-प्रदेश के मंत्री के रूप में चौधरी चरण सिंह ने जिस योग्यता ओर ईमानदारी के साथ विभिन्न विभागों में काम किया था, उतनी योग्यता, कर्तव्यनिष्ठा और ईमानदारी के साथ अन्य कांग्रेसी-मंत्री भी करते तो प्रदेश ने हर क्षेत्र में प्रगति की होती और प्रशासन-तंत्र ईमानदार, योग्य एवं कर्तव्य परायण बना दिया होता लेकिन ऐसा नहीं हुआ, यह हमारे देश और समाज के लिए एक अभिशाप है। इसका ज्वलंत प्रमाण यह है, कि लोकसभा के विशेष अधिवेशन में प्रायः सभी सदस्यों ने आंसू बहाए हैं।

'नेशनल हेरॉल्ड' के ये शब्द—'ऐसी ख्यातियां बहुत कम हैं', इस बात का

सूचक है कि देश के तत्कालीन राजनीतिक वातावरण और प्रशासन में चौधरी साहब जैसे योग्य, कर्मठ और ईमानदार देशभक्त मंत्रीगण बहुत कम थे। ऐसे योग्य तथा ईमानदार व्यक्ति को प्रशासन से बाहर रखना, अथवा उनको मंत्रिमंडल को बर्खास्त करा देना, व्यक्ति के लिए हानिकारक नहीं था, वरन् प्रदेश की जनता के लिए अभिशाप था। वह योग्य, ईमानदार, नीतिज्ञ, जातीय संकीर्णता से मुक्त, और देश की समृद्धि के साथ प्रतिबद्ध व्यक्ति के प्रशासन से वंचित हो गयी।

इस परिस्थिति के आलोक में, यह प्रश्न फिर उठाया जाना राष्ट्र के हित में होगा कि वह कौन व्यक्ति था जिसने स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीति में जातीय संकीर्णता को जन्म दिया था, तो इसका उत्तर यह ही निकलता है कि वह और कोई नहीं, सत्ता के उंचे आसन पर बैठे लोग थे, चौधरी साहब नहीं। पदासीन ऊंचे लोग और उनके चारों ओर लगे रहने वाले मुसाहिब, पुरोहिती हथकंडों से भली प्रकार अवगत ही नहीं, उनका प्रयोग भी करना जानते थे। चौधरी साहब को जातिवादी बताकर, उनको भारतीय राजनीति में महत्वहीन बना देने का प्रयास, उसी हथकंडे का एक अंग था। लेकिन चौधरी साहब की ईमानदारी, त्याग-भावना, लोकहित के प्रति गहरी निष्ठा और राष्ट्रभक्ति ने उनको न केवल सबल बनाये रखा, वरन् उन्हें केन्द्र में भी कांग्रेस के गढ़ को तोड़ने का श्रेय भी प्रदान किया।

कितनी बड़ी विडम्बना है कि पॉल आर. ब्रास जिस व्यक्ति में ऐसे गुण देखता है, उसी में, श्रीमती गांधी ने जातिवादिता खोज निकाली। पॉल आर. ब्रास के शब्द हैं–'चरण सिंह में एक आदर्श भारतीय गुट नेता होने के बहुत-से गुण हैं। वह अपनी बौद्धिक योग्यता के लिए प्रसिद्ध हैं तथा सत्यनिष्ठा के लिए ख्यात हैं। किसी ने उन पर अब तक भौतिक लाभ प्रापत करने की इच्छा का लांछन नहीं लगाया है।' (देखें प्रो. सुखवीर सिंह गोयल की पुस्तक, पृष्ठ 49)। 'नेशनल हेरॉल्ड' तथा पॉल आर. ब्रास की साक्षियां इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि भारत की राजनीति में सुयोग्यता, सच्चाई, कर्तव्य-पराणता, राष्ट्र-हितैषी विचारों के प्रति दृढ़ता, सैद्धांतिक विचार वैविध्य और अनेक प्रकार की संकीर्णता से मुक्ति के लिए कोई स्थान न था और भारत की राजनीति को एक समय अपने हाथों में रखा था राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने और स्वातंत्र्योत्तर काल में उस पर अधिकार हो गया था, नेहरू परिवार का। बहुत सम्भव है कि भारतीय राजनीति के इतिहास के अध्येता देश के समुचित विकास के अभाव, गरीबी, भ्रष्टाचार तथा आतंकवादी स्थिति के लिए इन राजनीतिज्ञों को उत्तरदायी मानें। इस संभावित निष्कर्ष का समर्थन कांग्रेस के एक प्रमुख नेता, बी. एन. गाडगिल के शब्दों से होता है–'कांग्रेस को मजबूत करने के लिए आज उसे गरीबों के

हितैषी की छवि बनानी पड़ेगी तथा दूसरी तरफ गैर-ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया तेज करनी होगी।'[1] इन शब्दों से स्पष्ट है कि कांग्रेस न तो गरीबों का दल थी और न ब्राह्मणवादी तत्वों से मुक्त। उमेश कुमार सिंह की प्रस्तुति में एक तथ्य निहित है। वह है कि कुछ समय पूर्व कांग्रेस ने एक योजना बनाई थी कि गरीबी की रेखा से नीचे हर स्त्री-पुरुष को एक साड़ी तथा एक धोती सस्ती दरों पर उपलब्ध कराई जाए, पर यह योजना कभी लागू ही नहीं हुई।

जिस प्रकार श्रीमती गांधी का गरीबी दूर करने का आह्वान केवल चुनावी नारा बनकर रह गया। यानी गरीबी आज तक दूर नहीं हुई, ठीक उसी तरह साड़ी और धोती सस्ती दरों पर दिलाने की योजना नारा बनकर रह गई। अपने निर्धारित लक्ष्यों को गम्भीरतापूर्वक पूरा न करने की कांग्रेसी-नेताओं की प्रवृत्ति ने कांग्रेस की साख गिराई है। इसके लिए वे स्वयं उत्तरदायी हैं। यही कारण है कि आजकल कांग्रेस संस्कृति को घोटालों की संस्कृति कहा जाने लगा है। इसके लिए, आज का कांग्रेसी-नेतृत्व जितना उत्तरदायी है, उससे कहीं ज्यादा पहले का नेतृत्व। जिन लोगों ने, स्वाधीनता-आगमन की बेला में, देशवासियों की मनो-स्थिति को देखा है, वे स्वीकार करेंगे कि उन दिनों देश का आम आदमी देशभक्ति की भावना से परिचालित था। देशभक्ति, सहिष्णुता और त्यागमूलक जन-भावना को सुरक्षित रखने और विकसित करने का दायित्व कांग्रेस-सरकार का था। इस दायित्व में वह बुरी तरह विफल हुई। उसकी विफलता की ओर, जिन लोगों ने संकेत किया अथवा देशभक्ति की भावना से अहिंसात्मक आन्दोलन खड़ा किया, उनको देश का दुश्मन बताया गया, उन पर विविध आरोप लगाये गये। कांग्रेस के नेताओं ने, अपने भीतर झांकने का साहस नहीं किया, वरन् अपनी विफलताओं के दोष भी दूसरों के सिर पर थोपे। इस तरह की नीतियों का परिणाम अच्छा और रचनात्मक कभी नहीं हुआ करता, वरन् देश और समाज के लिए हानिकारक होता है। यही नहीं, व्यक्ति और दल की छवियों को भी धूमिल कर जाता है। महर्षि दयानन्द के अनुयायी, चौधरी चरण सिंह इस बात को भली प्रकार जानते थे। अतः आपने न तो किसी पर अनर्गल आरोप लगाये, न निराधार तथा तथ्यहीन आलोचना की, न किसी के विरुद्ध कोई षड्यंत्र किया और न राजनीतिक सत्ता पाने अथवा बनाये रखने के लिए, किसी के साथ सिद्धांतहीन गठबंधन किया। केन्द्र में उनकी सरकार गिरी, पर मंत्रि पद के लालच अथवा अन्य किसी प्रकार के प्रलोभन के बल पर, किसी दल के सदस्यों को तोड़कर अपना बहुमत सिद्ध

---

1. नवभारत टाइम्स (रविवासरीय), 26 जुलाई 1995, पृष्ठ 9, प्रस्तुति : उमेश कुमार सिंह

करने का प्रयास न किया और न सहायता के लिए कांग्रेस की ओर हाथ बढ़ाया। वह जानते थे कि इस प्रकार के कार्य से वह स्वयं को तो बचा सकेंगे, पर देश की प्रगति के सामने दीवार अवश्य खड़ी कर देंगे। यह उनको स्वीकार न था। उनकी गणना उन शहीदों में की जानी चाहिए, जिन्होंने अपना सर्वस्व न्यौछावर करके देश के लिए कुर्बानी दी है। यदि वह, सिद्धांतहीन गठबंधन का आश्रय लेते तो न तो उत्तर-प्रदेश के मुख्यमंत्री पद को छोड़ देते, न प्रधानमंत्री पद को। ऐसे सिद्धांतप्रिय और कुशल प्रशासक के विरुद्ध आरोप लगाना एक व्यक्ति की अवमानना नहीं, वरन् आदर्शों, जीवन-मूल्यों और सिद्धांतों को ठोकर मारना है।

श्रीमती इंदिरा गांधी के आरोपों के चौधरी साहब द्वारा दिये गये उत्तर और उन पर श्रीमती गांधी की ओर से मौन का अर्थ यह है कि आरोपों का ठोस आधार न था। दूसरी ओर नेशनल हेरॉल्ड तथा पॉल आर. ब्रास तथा अन्य लोगों की साक्षियां सिद्ध करती हैं कि भारतीय राजनीति एवं प्रशासन में ऐसा सिद्धांत प्रिय तथा योग्य प्रशासक खोजने पर ही मिल सकता था। पर भारत की कांग्रेस प्रधान राजनीति में उनको स्थान नहीं मिल पाया, इसका पहला कारण यह था कि वह स्वाभिमानी थे, राष्ट्र-हितैषी थे, अपने विचारों के प्रति निष्ठावान थे, सही बात को कहने का साहस रखते थे और दूसरे ब्राह्मण जाति में पैदा न हुए थे। कांग्रेस की इस संकीर्ण नीति का बुरा फल प्रमुख रूप से देश के सबसे बड़े प्रदेश उत्तर-प्रदेश को भोगना पड़ा है और सामान्य रूप से समूचे देश को। लोकहितैषी नीतियों को, समस्त प्रलोभनों और संकीर्णताओं से मुक्त होकर लागू करने का लम्बा अवसर यदि चौधरी साहब को मिला होता, तो आज देश गरीब न रहता और न वर्तमान कांग्रेस सरकार की भांति जहरीला गेंहू विदेशों से मंगाना पड़ता और न चीनी-घोटाले में जनता की जेबों से पैसा निकाल कर चीनी लॉबी के मालिकों के खातों में पहुंचा होता। चौधरी साहब के घोर विरोधी भी, कुछ शब्दों के माध्यम से और कुछ मौन रूपसे, यह स्वीकार करते हैं कि जमींदारी उन्मूलन विधेयक का प्रारूप तैयार करने से लेकर सन् 1952 तक, गरीब किसान काश्तकारों का शोषण करने वाले जमींदार उसका फायदा उठाने और अपने शोषण को जारी रखने में समर्थ न हो सकें।

इसके ठीक विपरीत कांग्रेस के वे मंत्री थे, जिनके कान में जूं तक नहीं रेंगती है और जनता महंगाई, वस्तुओं की अनुपलब्धता और अव्यवस्था से परेशान हो जाती है। उत्तर-प्रदेश की कांग्रेस ने, चौधरी साहब जैसे सिद्धांतवादी तथा कुशल प्रशासक को खोकर प्रदेश की जनता के साथ अन्याय किया था और उन पर जातिवादिता का आरोप लगाकर राजनीतिक नैतिकता का गला घोंटा था।

केन्द्र में पहुंच कर, आपने राष्ट्रपिता की प्रेरणा पर, कुटीर उद्योगों के विकास पर बल दिया था और उनके उत्पादन के साथ होने वाली बाजार की प्रतियोगिता के निवारण के लिए विचार रखा था कि कुटीर उद्योगों में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का उत्पादन बड़े उद्योग नहीं करेंगे। यदि यह योजना कार्यान्वित हो गयी होती तो, बेकारी, भुखमरी और गरीबी का देश से सफाया हो गया होता, लेकिन यह योजना न तो कांग्रेस के नेताओं को प्रिय लगी, न कांग्रेस से निकले मोरारजी जैसे लोगों को और न पूंजीपतियों के समर्थक अन्य राजनीतिक धुरंधरों को। इसका एक विशेष कारण था। जो लोग जानते थे कि जिस तरह गांवों के गरीबों और किसानों में उनका प्रभाव समाप्त हो गया है और एक मात्र चौधरी साहब उसके प्रमुख नेता बनकर उभर आये हैं, उसी तरह शहरों के लोग भी उनके समर्थक बन जायेंगे। इस प्रकार की ईर्ष्या देश के लिए दुर्भाग्य का कारण बन गई। अन्यथा भारत भी जापान के समान शक्तिशाली बन गया होता। फलतः जनता पार्टी की सरकार को तोड़ने का षड्यंत्र किया गया। चिंतन की यह दिशा लोकहितैषी न होकर, केवल व्यक्ति-हितैषी थी। यही कारण है कि समूचे गैर-किसान पक्ष ने चौधरी साहब को प्रभावहीन बनाने की योजना की और उनको, उसमें आंशिक सफलता अवश्य मिली, पर वह सफलता देश के अहित की भूमि से पैदा हुई थी, फलतः उनके व्यक्तित्व को भी लील गयी और उनकी सत्ता को भी।

केवल वैयक्तिक महत्वाकांक्षा राजनीतिक जीवन में भयंकर मानसिक रोग होती है। वह व्यक्ति को खोखला बना देती है, लेकिन जब वह लोक-कल्याण की उर्वर भूमि से प्रस्फुटित होती है, तो वह वरदान बन जाती है। चौधरी चरण सिंह की महत्वाकांक्षा का भवन लोकहित की भूमि पर खड़ा था। उसमें किसानों को शोषण से मुक्ति, रिश्वतखोरी के विरोध, प्रशासन में मितव्यता की चेतना और जातीय संकीर्णता के विरोध का चूना तथा ईटें लगी हैं, फलतः वह स्थायी है। जब कभी, निष्पक्ष एवं विशुद्ध रूप से देशभक्त इतिहासकार भारतीय नेताओं के राजनीतिक नैतिक मूल्यों का विश्लेषण करेगा तो निश्चय ही वह इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि साधारण किसान परिवार में पैदा हुआ एक व्यक्ति, अनेक राजनीतिक दिग्गजों से अधिक कुशल प्रशासक, मितव्ययी, ईमानदार, सामान्य आदमी की बहबूदी के साथ गहराई के साथ जुड़ा और उज्ज्वल चरित्र का व्यक्ति था और वह था, चौधरी चरण सिंह।

कांग्रेस की नीतियों के साथ गहराई से जुड़ा 'नेशनल हेरॉल्ड' अंग्रेजी दैनिक जिस व्यक्ति को कुशल प्रशासक, ईमानदार व वैचारिक निष्ठा के लिए प्रसिद्ध

मानता हो और मंत्रिमंडल से जिसके बाहर होने को सरकार के लिए हानि मानता हो, उसी व्यक्ति के उपर जातिवादी संकीर्णता का आरोप लगाना भारतीय राजनीति की घोर विडम्बना है। जब कि सत्य यह भी है कि अपने दल के अध्यक्ष होने के नाते चौधरी साहब ने उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री के लिए एक बार श्री राम नरेश यादव का नाम प्रस्तावित किया था और दूसरी बार बनारसी दास का। स्पष्ट है कि इनमें से जाट कोई नहीं था। यदि वह जातिवादी होते तो चौधरी राजेन्द्र सिंह का नाम आगे बढ़ा देते। उनका ऐसा न करना, उनके जातीय संकीर्णता से मुक्त होने का ज्वलंत प्रमाण है। यह प्रसंग तब तक अधूरा रहेगा, जब तक भारत के कतिपय राजनीतिक नेताओं के जतिवादी संकीर्णता से भरे कार्यों के आलोक में, चौधरी साहब के राष्ट्रीय गुणों का मूल्यांकन नहीं कर लिया जाता।

'उत्तर प्रदेश में मंत्रिमंडल का गठन' जनवरी 1921 सितम्बर 1980 नामक पुस्तक के अवलोकन से ज्ञात होता है कि 3 अप्रैल 1937 से 16 जुलाई 1937 तक उत्तर प्रदेश में नवाब छतारी का मंत्रिमंडल था। इसमें छह में से तीन मुस्लिम थे, अर्थात 50 प्रतिशत मुस्लिम थे। 17 जुलाई 1937 से 2 नवम्बर 1939 तक पंडित गोविन्द वल्लभ पंत का मंत्रिमंडल था। इसमें सभासचिवों को मिलाकर बीस सदस्य थे। इनमें से छह ब्राह्मण थे यानी 30 प्रतिशत ब्राह्मण थे। पंतजी का ही दूसरा मंत्रिमंडल 1 अप्रैल 1946 से 20 मई 1952 तक रहा था। इसमें कुल 17 मंत्री थे और सोलह सभासचिव। 17 में से 4 ब्राह्मण थे और 16 सभासचिवों में से 4 ब्राह्मण थे, अर्थात् लगभग एक चौथाई ब्राह्मण थे।

पहली विधान-सभा में पंतजी मुख्यमंत्री थे। इसमें 19 मंत्री थे। इनमें से 6 ब्राह्मण थे, अर्थात् लगभग एक तिहाई ब्राह्मण थे। 4 अप्रैल 1971 से 12 जून 1971 तक श्री कमलापति त्रिपाठी मुख्यमंत्री थे। उनके मंत्रिमंडल में मंत्री तथा उपमंत्रियों की संख्या 40 थी और उनमें से बारह ब्राह्मण थे। 21 जनवरी 1976 से 30 अप्रैल 1977 तक नारायण दत्त तिवारी मुख्यमंत्री थे। उनके मंत्रिमंडल में 31 मंत्री तथा उपमंत्रियों में से 5 ब्राह्मण थे। उपर के तथ्य इस बात के साक्षी हैं कि जब कभी प्रदेश का मुख्यमंत्री ब्राह्मण रहा था, तब उसके मंत्रिमंडल में, ब्राह्मण जाति के लोग, अन्य जातियों की समता में, मंत्री अधिक रहे। नवाब छतारी भी इसी सीमा में आते हैं। इसके ठीक विपरीत स्थिति चौधरी चरण सिंह के मंत्रिमंडल की है। इनका पहला मंत्रिमंडल 3 अप्रैल 1967 से 25 फरवरी 1968 तक रहा था। इस मंत्रिमंडल में वह अकेले जाट हैं। आपका दूसरा मंत्रिमंडल 18 फरवरी 1970 से 1 अक्टूबर 1970 तक रहा था। इसमें दो जाट थे और मुख्यमंत्री को मिलाकर कुल तीन जाट थे। इस प्रकार 40 मंत्री एवं उपमंत्रियों

के मंत्रिमंडल में कुल 3 जाट मंत्री अर्थात् लगभग पांच प्रतिशत। दोनों की तुलना करने से निष्कर्ष निकलता है कि चौधरी साहब जाति-पांति की संकीर्णता से मुक्त थे। आपने न तो प्रशासन में जातिगत आधार पर किसी को तरक्की दी, न किसी के साथ हकतलफी की। ईमानदारी और कार्य-कुशलता केवल दो ऐसी कसौटियां थीं, जिनके बल पर लोग उनकी प्रशंसा के पात्र बनते थे और उनसे उंचा उठने का अवसर प्राप्त किया करते थे। इसके ठीक विपरीत श्रीमती गांधी की जाति के मुख्यमंत्रियों की स्थिति थी।

किसी समाचार-पत्र अथवा पत्रकार ने, उन पर यह आरोप नहीं लगाया कि उन्होंने किसी विभाग में जाटों की भर्ती कर दी है। इसके ठीक विपरीत समाजवादी पार्टी के मुख्यमंत्री श्री मुलायम सिंह पर ऐसे आरोप पर्याप्त मात्रा में लगाये गये हैं। इस सन्दर्भ में 'माया' पत्रिका का 15 अक्टूबर 1994 के अंक का पृष्ठ 15 देखा जा सकता है। इसमें कहा गया है कि अगस्त 1994 में प्रदेश के 13 जिलों में पी. ए. सी. के 2, 119 लोगों का चयन किया गया था, किन्तु उक्त संख्या में 521 व्यक्ति ऐसे हैं, जिनके नाम के साथ यादव लगा हुआ है। इसी पत्रिका का कहना है कि सूत्रों के अनुसार तकरीबन आधे लोग ऐसे हैं, जो जाति से यादव हैं लेकिन उनके नाम के आगे यादव नहीं लिखा है। पूर्व मुख्यमंत्री श्री कल्याण सिंह के आरोप को उद्धृत करते हुए 'माया' का कथन है कि 'मुलायम सिंह यादव ने अपने स्तर पर सुविधा देकर एक जाति विशेष के 80 प्रतिशत लोगों को भर्ती कराया। भर्ती के लिए 13 चयन समितियां बनाई गई थीं, इनमें से 7 के अध्यक्ष पद पर यादवों की नियुक्ति की गयी।' इसी पत्रिका का कथन है कि नैनीताल जनपद से बिहार, देवरिया, गोरखपुर, बांदा, कांगड़ा आदि जिलों के यादवों का चयन किया गया। पत्रिका ने भर्ती सूची के क्रमांक देकर भर्ती किये गये यादवों के नाम दिये हैं। जातिवाद का यह स्पष्ट प्रमाण है और यही नहीं लोकसेवा आयोग, उत्तर-प्रदेश के कई स्थानों पर यादवों को बिठाया जाना जातिवादी राजनीति का अशोभनीय खेल है। इसके अलावा बसपा सरकार के, कतिपय उत्तरदायित्वपूर्ण स्थानों पर बैठे व्यक्तियों का कथन है कि उत्तर-प्रदेश भूमि-विकास बैंक के अध्यध मुलायम सिंह यादव के भाई, उत्तर-प्रदेश सहकारी बैंक के अध्यक्ष छोटेलाल यादव, पी. सी. एफ प्रादेशिक सहकारी बैंक के अध्यक्ष चन्द्रपाल सिंह यादव और पी. सी. यू. (प्रदेश सहकारी संघ) के अध्यक्ष सुल्तान सिंह यादव थे। यह माना जा सकता है कि इन सब नियुक्तियों में श्री मुलायम सिंह का सीधा कोई हाथ न हो, क्योंकि इनका राजनीतिक प्रशिक्षण भी चौधरी साहब के संसर्ग में हुआ हैं, लेकिन यदि इन नियुक्तियों और इन

पर की गई, विभिन्न लोगों की टिप्पणियों में सत्य का कोई अंश है तो यह किसी नेता के लिए शोभनीय नहीं कहा जा सकता।

अपने घर में, सदैव शूद्र कही जाने वाली जाति का व्यक्ति भोजन बनाने के लिए रखना, अपनी बेटियों का विवाह अन्य जाति में करना, उत्तर-प्रदेश के मुख्यमंत्री के रूप में, एक ईमानदार एवं योग्य व्यक्ति को पुलिस विभाग का आला अफसर बनाना, गूजर जाति के योग्य व्यक्ति को लोकसेवा आयोग का अध्यक्ष बनाना, भारत सरकार के गृहमंत्री के रूप में योग्य और ईमानदार व्यक्ति को दिल्ली का पुलिस कमिश्नर बनाना और अपनी जाति के किसी व्यक्ति को किसी उंचे पद पर आसीन न करना, उनकी जातिवादी संकीर्णता से दूरी का परिचायक तो है ही, प्रमाण भी है। दूसरी ओर, अन्य लोगों ने, राज्यपालों तथा राजदूतों की नियुक्ति करते समय जातीय संकीर्णता का त्याग नहीं किया। आंकड़ों के लिए 'जातिवादी कौन' नामक पुस्तक की पृष्ठ संख्या 40 देखी जा सकती है। इससे स्पष्ट होता है कि चौधरी साहब पर जातिवादी होने का आरोप लगाने वालों के हाथ जातिवाद के रंग से कहां तक रंगे हुए थे।

चौधरी साहब मुख्यमंत्री, केन्द्र में गृहमंत्री अथवा प्रधानमंत्री बनने के बाद जातीय संकीर्णता से मुक्त हो गये थे, ऐसा नहीं है। वह सदैव से, जातीय संकीर्णता से दूर रहे थे। उनके प्रारम्भिक जीवन-काल में ही उन्हें बड़ौत के जाट कॉलेज की प्रिंसिपलशिप का आफर दिया गया था, लेकिन उन्होंने यह कहकर प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था कि वह किसी जातिवादी संस्था, संगठन अथवा शिक्षा संस्थान के साथ जुड़ना नहीं चाहते। उनके अन्तरंग साथियों में भी जाट नहीं, वरन् मुसलमान, वैश्य, गूजर, खत्री और अहीर अधिक थे। संभवतः कांग्रेस के वह प्रथम मुख्यमंत्री थे, जिसने अपने प्रदेश में जाति-आधारित नाम वाली शिक्षा संस्थाओं के नाम हटाने के लिए राजकीय आदेश प्रसारित करा दिया था कि अपने जातिवादी नाम को बदल दें अन्यथा उनकी राजकीय आर्थिक सहायता बंद कर दी जायेगी। अपने विश्वासों, उच्च-आदर्शों और उदात्त मानवीय-मूल्यों के प्रति जितनी निष्ठा एक सीधे-सादे किसान में होती है, उतनी अन्य लोगों में नहीं होती। यही कारण है कि एक किसान के बेटे ने मुख्यमंत्री बनते ही शिक्षा संस्थाओं के जातिवादी नाम समाप्त करा दिये। किसी प्रबंध-समिति के अधिकारियों का साहस न हुआ कि वह सरकार के निर्णय के विपरीत, किसी अदालत में जाये। यह इसलिए था कि प्रदेश का प्रत्येक व्यक्ति जानता था कि चौधरी साहब में, अपने निश्चयों को, ठोस रूप देने का साहस मौजूद है।

इससे पहले की एक घटना और उल्लेखनीय है। चौधरी साहब ने, सन्

1951 के आस-पास किसी सभा में, जातिवादी संकीर्णता पर प्रहार किया था। संयोग से वह सभा राजपूत-बहुल थी। अतः दुर्भाग्य से यह समझा गया कि चौधरी साहब राजपूत-विरोधी हैं और इस विचार के अन्तर्गत उनके विपरीत दुष्प्रचार किया गया। फलतः आपने राजपूत नेशनल-हाई-स्कूल, पिलखुआ, जिला-मेरठ के प्रिंसिपल को, अपनी विचारधारा को स्पष्ट करते हुए 15 फरवरी सन् 1951 को एक पत्र लिखा था। उस पत्र की कुछ पंक्तियां पठनीय हैं–'पिछले समय जनवरी में आपके स्कूल में प्रबंधक-मंडल के भाषणों के जवाब में, सामान्य प्रतिक्रिया स्वरूप शैक्षणिक संस्थाओं के नाम जाति विशेष के आधार पर रखे जाने के विरुद्ध मैं बोला था। मैं समझता हूं कि मेरे विचारों को काफी इकट्ठा करके इस प्रकार का प्रचार किया गया है कि मैं राजपूत-जाति का विरोधी हूं। मैंने जब से सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया है, तब ही से मैं इसी प्रकार के विचार प्रकट करता रहा हूं। विशेष रूप से जाट-बाहुल्य क्षेत्रों में, इनको अधिक सशक्त रूप से प्रकट किया है। आप तो एक पढ़े-लिखे आदमी हैं और आप इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि हमारी गिरावट और राजनीतिक दासता का प्रमुख कारण जातिगत संकीर्णता सदियों से रही है। आप मुझे राजपूतों का शत्रु समझते हैं। आपकी तरह सोचने वाले जो लोग जाटों में हैं, वे मुझे उसी कारण जाट-विरोधी समझते हैं। आप यदि मेरे समुदाय के वरिष्ठ लोगों से बातचीत करें, जिनका सम्बंध बड़ौत (जिला-मेरठ) के जाट कॉलेज या सईदपुर (जिला-बुलन्दशहर) से है तो आप पायेंगे कि मैं जाट-समुदाय को छोड़कर अन्य हरेक समुदाय का मित्र हूं।' (जातिवादी कौन, पृष्ठ 24-25)।

इसी पत्र की अंतिम पंक्ति है–'हमें इतिहास से सीखना चाहिए कि यदि हम अब भी जातियों और गोत्र में बंटे रहेंगे तो हम सभी विभिन्न दिशाओं में खिंचते चले जायेंगे।' (जातिवादी कौन, पृष्ठ 25)।

राजपूत-नेशनल हाई स्कूल, पिलखुआ के ही उक्त प्रिंसिपल महोदय को 19 मार्च 1951 के अपने पत्र में, चौधरी साहब ने, जो शब्द लिखे हैं, उनसे उनकी देशभक्ति और जातीयता-विरोधी गहन आस्था का पता लगता है। उक्त पत्र के शब्द हैं–'शांतिपूर्वक सोचें, एक हमारी इस अभागी मातृभूमि के इतिहास का मनन करें। हमने धर्म और राजनीति के क्षेत्र में सदियों से मात खाई है, प्रथम रूप से जन्म के आधार पर बंटी हुई हमारी जातियों के कारण ही। यदि देश को राष्ट्रों के मंडल में सही स्थिति पर पहुंचना है तो हमें जाति एवं गोत्र के इस संकुचित दायरों से उपर उठना होगा।' (जातिवादी कौन, पृष्ठ 25)। चौधरी साहब का यह कथन,उनकी अन्तरात्मा की आवाज थी, अनेक नेताओं के कथनों

की तरह छद्म अथवा दिखावा नहीं थी। यदि, ऐसा होता, तो वह उत्तर-प्रदेश के प्रथम एवं प्रभावशाली मुख्यमंत्री गोविन्द वल्लभ पंत को लिखकर जातिवादी विषाक्त वातावरण के निवारणार्थ दो सुझाव प्रस्तुत न करते, जिनको पंतजी ने अनदेखा कर दिया था और न भारत के प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरु के सामने, वह इसी प्रकार का प्रस्ताव रखते। दुर्भाग्य है कि पंडित जी ने भी उनके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। दोनों नेताओं ने, चौधरी साहब के सुझावों के राष्ट्रीय महत्व को उदासीनता की टोकरी में डाल दिया।

इस पर भी वह निराश नहीं हुए। आपने उत्तर-प्रदेश राज्य-कांग्रेस-कमेटी के सामने एक प्रस्ताव रखा कि कोई कांग्रेसी व्यक्ति न तो किसी ऐसी संस्था का सदस्य होगा और न ही ऐसी किसी संस्था की कार्यवाही में भाग लेगा, जो किसी जाति या जातियों तक ही केन्द्रित हो और न ही अन्य जातियों के बीच वैमनस्य फैलाने में शामिल होगा। (जातिवादी कौन, पृष्ठ 26)। औपचारिक रूप से प्रस्ताव पास तो हो गया, लेकिन पुरुषोत्तम दास टण्डन तथा कमलापति त्रिपाठी जैसे प्रमुख कांग्रेसी व्यक्तियों ने, उक्त प्रस्ताव की धज्जियां उड़ा दीं। 'नेशनल हेराल्ड; दिनांक 15 नवंबर 1954 में प्रकाशित एक समाचार के आधार पर कहा जाता है कि नवम्बर 21, 1954 को पुरुषोत्तम दास टण्डन कानपुर पधारेंगे और वह उसी शाम बिरहाना रोड़ पर नवनिर्मित खत्री धर्मशाला का उद्घाटन करेंगे। त्रिपाठी जी ने 1972 में लखीमपुर खीरी जिला मुख्यालय पर एक बैठक में भाग लिया, जिसमें केवल ब्राह्मणों ने भाग लिया था।' (जातिवादी कौन, पृष्ठ 72)

इसके ठीक विपरीत चौधरी साहब ने आजीवन कभी किसी ऐसी बैठक में भाग नहीं लिया, जिसमें केवल जाट एकत्र हुए हों। इससे सिद्ध होता है कि वह नहीं, वरन् कांग्रेस के ब्राह्मण नेता जातिवादी संकीर्णता के शिकार थे। कुछ नेताओं का कार्य तो पैर-पूजना और ब्राह्मणों का आशीर्वाद के रूप में रेवड़ियां बांटना ही था।

अमेरिका की वाशिंगटन यूनिवर्सिटी में राजनीतिशास्त्र विभाग के प्रोफेसर पॉल आर. ब्रास का एक कथन चौधरी साहब की नीति, कार्य-प्रणाली और न्याय-प्रियता पर प्रकाश डालता है। उनकी मान्यता है—'चरण सिंह अपने खास लोगों का उस ढंग से ध्यान नहीं रखते जितना उनको रखना चाहिए।' (जातिवादी कौन, पृष्ठ 7)। जो व्यक्ति अपने खास आदमियों का भी, उतना ध्यान नहीं रखता, जितना उसको रखना चाहिए, वह जातिवादी कैसे हो सकता है?

निष्कर्ष यह है कि जातिवादी संकीर्णता भारत की प्रगति के लिए अभिशाप सिद्ध हुई है। इसी के कारण भारत के टुकड़े हुए हैं और इसी के कारण आर्थिक,

सांस्कृतिक तथा राजनीतिक विकास में बाधाएं आई हैं। ब्राह्मण ऋषि की जातीय संकीर्णता के कारण ही आर्य वर्णों में विभाजित हुए। कुछ समय तक तो विभिन्न वर्णों में भी एकता और समानता रही, किन्तु अपने आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति और सामाजिक श्रेष्ठता बनाने के उद्देश्य से, ब्राह्मण समाज विशेषतः पुरोहिती समाज द्वारा अपनाई गई जातीय संकीर्णता के कारण सभी वर्ण विभिन्न जातियों में बंट गये और वैदिक कालीन एकता छिन्न-भिन्न हो गयी। शक्तिशाली आर्य तीन-तेरह होकर दुर्बलता की ओर जाने लग गए।

पौराणिक तथ्यों के आधार पर ब्रह्मर्षि और राजर्षि का अन्तर पैदा करने वाले वशिष्ठ थे। स्वयं को सर्वश्रेष्ठ बनाये रखने के लिए वशिष्ठ ने विश्वामित्र, कवष-ऐलुष और विदेह की विद्वता को, अपने से हीन माना, जबकि अत्यंत लोकप्रिय गायत्री मंत्र के रचयिता विश्वामित्र हैं। दोनों की प्रतिद्वंद्विता ने, न केवल ऋषियों को ही बांटा, वरन् राजघरानों में भी वैमनस्य पैदा कर दिया। पुराणकालीन ब्राह्मण पुरोहित ने ब्राह्मण की श्रेष्ठता प्रतिपादन के लिए प्रचुर साहित्य की रचना की। ब्राह्मण को ब्रह्मा के मुंह से पैदा हुआ बताया। उसको सर्वज्ञ सिद्ध किया। उसके वरदान से सिद्धियां मिलती हैं, आदमी स्वर्ग जाता है, उसको मोक्ष मिलती है। उसके शाप से चौरासी योनियों में भटकना पड़ता है। उसमें मंत्र का बल है। उसके बल से वह तीनों कालों का ज्ञान रखता है, सब कुछ कर सकने में समर्थ है। इस प्रकार प्रचार किया गया। बाद में 'अग्रे-अग्रे ब्राह्मणा, नदी-नाले चः वर्जयेत' (तात्पर्य है सबसे पहले ब्राह्मण को दो, उसको आगे रखो, पर यदि नदी तथा नाले जाना हो तो उसको पीछे रखिये।' यही बात तुलसी ने भी कह डाली 'पूजिये विप्र ज्ञानगुनहीना, शूद्र न पूजिए चतुर प्रवीना।' ये सिद्धांत ब्राह्मण को महत्व देने के लए गढ़े गये।

बात यदि ब्राह्मण को श्रेष्ठ सिद्ध करने तक भी रहती तो देश की शक्ति का पराभव न होता। ब्राह्मण ने, अपने अतिरिक्त सबको पृथक करने का प्रयास किया। इस्लाम और ईसाई धर्म के लोग, विभिन्न जातियों के लोगों को अपने समाज और धर्म में मिला रहे थे और भारत का ब्राह्मण अपने अंग अर्थात् अन्य आर्यों को ही बाहर फेंक रहा था। इसके अनेक ज्वलंत उदाहरण हैं। द्रोण जैसे विद्वान् द्वारा, सारथि पुत्र कर्ण को अथवा एकलव्य को, शिक्षा से वंचित कर दिया गया। यह ज्ञात होने पर कि कर्ण ब्राह्मण पुत्र नहीं है, परशुराम द्वारा उसको शिक्षा से वंचित कर देना, बोलन दर्रा के पास बसी जाट जातियों को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य करा देना और इस प्रकार गांधार (वर्तमान कंधार) प्रदेश को भारत से पृथक करा देने के लिए परिस्थितियां पैदा करना ब्राह्मण समाज

की संकीर्णता का ही परिणाम है। यदि वे, अपनी जातीय श्रेष्ठता बनाये रखने का प्रयास करते तो किसी को आपत्ति भी न होती, लेकिन उन्होंने विषम स्थिति में धर्म-परिवर्तन करने वाली जातियों को दूध में गिरी मक्खी की तरह अलग कर दिया। उनको अपने में मिला लेते तो आज भारत का नक्शा ही दूसरा हो गया होता। गाय के हत्यारे को गंगा स्नान कराके तथा सौ-दो-सौ ब्राह्मणों को भोजन तथा दक्षिणा दिलाकर ब्राह्मण समाज गाय-हत्या के दोष से मुक्त कर सकता था, किन्तु बलपूर्वक मुसलमान अथवा ईसाई बना लेने वाले लोगों को फिर से अपने में मिला लेना ब्राह्मणों को रुचिकर नहीं था। इनकी जातीय संकीर्णता के कारण कींकन प्रदेश के जाट, जिन्होंने निरंतर दो सदियों तक भारत पर होने वाले अरबों के हमलों को रोका था[1], बाद में शक्तिशाली इस्लाम की सेना के दबाव के कारण विवशातावश इस्लाम के अंग बन गये और आर्यों के सप्त-सैंघव-क्षेत्र में इस्लाम के पैर फैल गये। यही हालत सिंध-प्रदेश की हुई। वहां के ब्राह्मण राजा दाहिर ने, अपनी प्रजा को जिसमें जाट तथा मेदों की अधिकता थी, अपने जातीय गर्व में आकर, सामान्य नागरिक सुविधाओं से भी वंचित कर दिया था कि वे केवल अधोवस्त्र ही पहनेंगे और बाहर निकलेंगे तो अपने कुत्तों के साथ। उनको सामान्य त्यौहार तथा पर्व मनाने तक का अधिकार भी नहीं दिया गया था। दाहिर और औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता में कोई अन्तर नहीं था, यदि कुछ था तो केवल यह कि पहला हिन्दू था और दूसरा मुसलमान। धार्मिक कट्टरता और जातीय गर्व में दोनों समान थे। औरंगजेब की कट्टरता के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करने वाली बृजक्षेत्र की जनता थी, जो तिलपत के जाट किसान गोकुला के नेतृत्व में संगठित होकर संघर्ष कर रही थी और अपने धर्म, सांस्कृतिक विरासत एवं जातीय स्वाभिमान की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगा रही थी।

लगभग यही स्थिति सिंध की थी। दाहिर की लोक विरोधी नीति का विरोध जाट तथा मेद दोनों जातियां कर रही थीं। इसका प्रमाण यह है कि जिस समय, सिंध पर मोहम्मद बिन कासिम ने हमला किया तो उक्त दोनों जातियां संगठित सेना के साथ आक्रमणकारी से लड़ीं लेकिन तीन दिन के युद्ध के बाद इन्हें पराजय का सामना करना पड़ा। इनमें कुछ मारे गये, कुछ भाग गये और कुछ पकड़े गये। गिरफ्तार किये गये लोगों को इस्लाम स्वीकार करने पर विवश किया गया। इस भयंकर विनाश की संभावना के डर से भी वे नहीं कांपे और न दाहिर का साथ दिया। खेद है कि दाहिर की संतानों ने भी अपने हिन्दू-भाइयों

1. आर. सी. मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ कल्चर ऑफ द पीपल ऑफ इण्डिया, द क्लासीकल एज, पृ. 42, प्रकाशक विद्याभवन, 1954

को, अपने में मिलाने की बात नहीं सोची। ब्राह्मण जाति की जातीय श्रेष्ठता की भावना ने कींकन क्षेत्र के भाइयों के साथ क्षेत्र को भी खो दिया और सिंध को भी। खेद इस बात का है कि इतने विनाश और राष्ट्रीय अहित के बाद भी ब्राह्मण पुरोहितों और संकीर्ण दृष्टि के लोगों ने अपनी ऐतिहासिक भूल को सुधारने की अपेक्षा उसे कई गुना अधिक बढ़ाया। इससे देश कमजोर हुआ, फलतः देश में उभरती स्थानीय एवं देशभक्त शक्तियां कमजोर हुईं।

एक अन्य उदाहरण से भी यही बात प्रकट होती है। औरंगजेब की मृत्यु के बाद, भारत के इतिहास में मुगल-शासन कमजोर हुआ था और शिवाजी ने पुनः भारतीय संस्कृति की पक्षधर शक्तियों को उभरने की प्रेरणा दी थी। परिणामस्वरूप दिल्ली-आगरा तथा भरतपुर के क्षेत्र में जाटों ने पतनशील मुगल-साम्राज्य को करारा झटका देकर स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी और राजपूतानों में जयपुर, उदयपुर आदि कई राज्य राष्ट्रीय शक्ति के रूप में उभर रहे थे, किन्तु शिवाजी के बाद पेशवाओं के रूप में उभरती ब्राह्मण जाति ने, समूचे देश पर अपना शासन थोपने के उद्‌देश्य से, पूरे देश के राज्यों से चौथ और सरदेसाई वसूल करने की कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। सर यदुनाथ सरकार की पुस्तक 'फाल ऑफ मुगल एम्पायर' भाग-2 इस बात की साक्षी देती है कि स्थानीय शक्तियों को तबाह करने के लिए, मराठा सैनिकों ने बंगाल में महिला-समाज का शीलभंग तक किया, लूटमार तो दूर की बात है। यही काम, उन्होंने राजपूताना में किया। जयपुर राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न तक पर उन्होंने हस्तक्षेप किया और बाद में तो बात यहां तक बढ़ी कि मल्हार राव होल्कर की ज्यादतियों के कारण सवाई ईश्वर सिंह (आमेर नरेश) को, स्वयं को सर्प-दंश के विष से प्राण त्यागने पड़े।'[1] ईश्वर सिंह को, उत्तराधिकार के प्रश्न पर, सहायता करने के कारण और उससे रुपये वसूल करने के उद्देश्य से राजा सूरजमल के कुम्हेर के किले को मराठों ने घेर लिया था[2] और मल्हार राव होल्कर के पुत्र विश्वास राव की मृत्यु होने के कारण मराठा-सेना घेरा उठा कर चली गयी थी। ईश्वर सिंह को सहायता देने के कार्य में सूरजमल का अपना कोई स्वार्थ न था, वरन् सवाई महाराज जयसिंह के प्रति अपनी निष्ठा और आदर का प्रदर्शन मात्र था।

चौथ वसूली के बहाने मराठा सेना के आक्रमणों तथा लूट से भारत के राजे इतने प्रताड़ित हो चुके थे कि वह मराठों का पतन देखने के लिए लालायित थे। यही कारण है कि राजस्थान के कई राजाओं ने मराठों से छुटकारा पाने

---

1. सर यदुनाथ सरकार, मुगल साम्राज्य का पतन भाग-1, पृ. 190, सन् 1961
2. के. नटवर सिंह, महाराजा सूरजमल, पृ. 71, सन् 1984

के लिए अहमदशाह अब्दाली तक को भारत आने का निमंत्रण तक दिया था। यही नहीं, अब्दाली के आक्रमण के समय मराठों ने, विशेषतः बाजीराव पेशवा के सेनापति सदाशिवराव भाउ ने देश के सभी राजाओं को, देश से अब्दाली को भगाने के लिए उसका साथ देने का निमंत्रण दिया था, लेकिन केवल सोरम, जिला मुजफ्फरनगर की सर्वखाप पंचायत तथा भरतपुर नरेश सूरजमल के किसी अन्य राजा ने उनका साथ देने या समर्थन करने का वायदा नहीं किया। सूरजमल का समर्थन देने का वायदा इस शर्त पर निर्भर करता था कि दिल्ली का प्रशासन वजीर इमाद को सौंप दिया जाए और अब्दाली का सामना जोश से नहीं होश और योजना से किया जाए। लेकिन सदाशिवराव भाउ ने न तो दिल्ली का अधिकार वजीर को सोंपा, न मथुरा सम्मेलन में अब्दाली के युद्ध करने के सूरजमल के प्रस्तावों को स्वीकार किया। अपनी हठधर्मिता, जातीय श्रेष्ठता और शक्ति के गर्व में चूर भाउ साहब ने, उन प्रस्तावों को स्वीकार किया, जिनके विषय में प्रायः प्रत्येक इतिहासकार की मान्यता है कि सूरजमल के वे प्रस्ताव अत्यंत उपयोगी थे, यदि भाउ ने विवेक से काम लिया होता तो उसकी हार न होती, मराठा शक्ति की कमर न टूटती और न उत्तर भारत अब्दाली की सेना के पैरों तले कुचला जाता। भाउ साहब की विवेकहीन जातीय श्रेष्ठता की भावना और दिल्ली के किले पर भगवा ध्वज फहराने तथा पेशवा के पुत्र को दिल्ली के तख्त पर बिठाने के लालच ने देश की शक्ति का सर्वनाश कर दिया और बाद में अंग्रेजों के लिए भारत के द्वार खोल दिये।

दुःख इस बात का है कि सत्ता के आसन पर बैठे विवेकशील तथा विद्वान ब्राह्मणों ने वैदिक युग से लेकर अंग्रेजों के आगमन तक के जातीय संकीर्णता तथा वैमनस्य के दुष्परिणामों से सबक नहीं लिया। अंग्रेज कवि शैक्सपीयर की एक पंक्ति याद आती है 'नावल एण्ड वरचूअस माइण्ड में रिकाइल इन इम्पीरियल चाज'। भारत का कवि भी यही बात कहता है कि 'सत्ता पाहि काहि मद नांही' पंडित नेहरु जैसे विवेकी, विचारक तथा विद्वान व्यक्ति भी जब अपने विचारों के विरोधी के तर्कों तथा विचारों में निहित राष्ट्रीय हित को न देखकर, विरोधी पर जातीय संकीर्णता का आरोप लगाने में लगे तो सामान्य विचार के आदमी से, उदात्त मानवीय-मूल्यों की रक्षा की अपेक्षा करना चील के घोंसले में मांस खोजना होगा। आपने मेरठ जिला कांग्रेस के कार्यों के मूल में निहित राष्ट्रीय भावना, ईमानदारी और एक निष्ठावान कांग्रेस-कार्यकर्ता का विचार न देखकर जाटपन देखा। यही बात आगे के नेताओं में, केवल दिखाई ही नहीं पड़ती, वरन् अधिकता के साथ विद्यमान मिलती है। उदाहरण के लिए उत्तर-प्रदेश में बने

मंत्रिमंडलों पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि उनमें पंडित गोविन्द वल्लभ पंत जैसे कर्मठ तथा निष्ठावान कांग्रेसी एवं कुंशल-प्रशासक के काल में भी मंत्रिमंडल में, उनकी अपनी जाति के मंत्रियों की संख्या, अन्यों की अपेक्षा अधिक थी। यही बात उच्च पदों पर आसीन अधिकारियों तथा सचिवों के विषय में कही जा सकती है। पंडित कमलापति त्रिपाठी के काल में तो जातीय संकीर्णता चरमसीमा पर पहुंच गयी थी। उनके दरबार में, चरण स्पर्श करने वाले तथा लाभान्वित होने वाले लोग उनकी अपनी जाति के ही प्रायः अधिक होते थे। यह सम्भव है कि इन लाभान्वित होने वाले लोगों की उन्नति अथवा लाभ में सीधे त्रिपाठी जी का कोई हाथ न हो, क्योंकि ऐसे कर्मठ कांग्रेस जनों से जातीय संकीर्णता की अपेक्षा नहीं की जा सकती, यह कार्य किसी उनके दरबारी का हो सकता है लेकिन अप्रत्यक्ष लांछन, उच्च पदासीन व्यक्ति पर ही लगता है।

श्रीमती इंदिरा गांधी की स्थिति अपने विद्वान तथा विचारक पिता से भिन्न थी। पंडित जी दार्शनिक और विश्व-एकता अथवा मानव-समता एवं स्वाधीनता के विचारों में डूबे रहते थे। उनका ध्यान अन्तर-राष्ट्रीय प्रश्नों की ओर अधिक था, लेकिन श्रीमती गांधी प्रशासन और राजनीतिक जोड़-तोड़ में विश्वास रखती थीं और कांग्रेस की डगमगाती नौका को, हर तरीके से पार लगाने के काम में उलझी रहती थीं। कांग्रेस जनों का लोकहित तथा राष्ट्रहित के काम से अलगावित होकर संकीर्ण स्वार्थों की ओर उन्मुख होना, कांग्रेस दल को निर्बल बना रहा था। इसको पुनः शक्तिशाली बनाने की रामबाण औषधि केवल कांग्रेस-दल के सदस्यों को लोकहित के साथ जोड़ना था, लेकिन कांग्रेस-अध्यक्ष होने के नाते श्रीमती गांधी यह कार्य करने में सफल न हो सकीं। फलतः सत्ता में बने रहने के लिए, उनके पास अब एक ही रास्ता रह गया था और वह था पैसे वाली पार्टी अथवा प्रतिक्रियावादी तत्वों के साथ गठबंधन करना। ऐसी स्थिति में, चौधरी चरण सिंह अथवा उनके समान ईमानदार किसान या निष्ठावान नागरिकों के साथ, उनका गठबंधन होना सम्भव न था। यही कारण है कि वह पहले मोरारजी भाई जैसे सिन्डीकेट नेताओं की ओर झुकीं, उत्तर-प्रदेश में सी. बी. गुप्ता के साथ गठबंधन किया और फिर पुरोहिती मनोवृत्ति के लोगों के साथ मेल कर बैठी। आपातकाल के बाद चुनावों में पराजित होने के बाद, जोड़-तोड़ की राजनीति में सफल हुईं और अपने ईमानदार विरोधियों को समाप्त करने के लिए जातिवाद का आरोप लगाने लगीं, उन पर देश की आर्थिक स्थिति के बिगाड़ने का दायित्व थोपने लगीं। चौधरी साहब ही नहीं चौधरी साहब की पूरी जाति पर भी, मुरादाबाद के साम्प्रदायिक दंगों के संदर्भ में जातिवादी होने का आरोप लगाने लगीं। साम्प्रदायिक

संघर्ष के यथार्थ कारणों का पता लगाये बिना, किसी समाज को आरोपित करना, उदात्त राजनीतिक मूल्यों का परिचायक नहीं माना जा सकता।

अपने उपर लगाये गये निर्मूल तथा अनर्गल आरोपों का उत्तर देना हर ईमानदार तथा स्वाभिमानी व्यक्ति का पवित्र कर्तव्य होता है। यही कारण है 'जातिवादी कौन' नामक पुस्तक सामने आयी। इस पुस्तक द्वारा वे तथ्य दिये गये हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि चौधरी चरण सिंह अथवा उनकी जाट जाति साम्प्रदायिक अथवा जातीय संकीर्णता से ग्रसित नहीं है, वरन् यह कार्य स्वयं श्रीमती गांधी की जाति के लोगों ने अधिक किया है। विभिन्न कालों में तथा विभिन्न ब्राह्मण मुख्यमंत्रियों के समय, उनकी जाति के मंत्रियों की, अन्यों की अपेक्षा अधिक संख्या, सचिवों तथा उप-सचिवों के अधिक आंकड़े इस बात के प्रमाण हैं। इसी प्रकार राज्यपालों तथा राजदूतों में ब्राह्मण जाति के लोगों का होना भी इसी ओर इशारा करता है।

दूसरी ओर चौधरी चरण सिंह का कार्य है कि उन्होंने अपने उत्तर-प्रदेश के मुख्यमंत्री काल में अपनी जाति के लोगों को पांच प्रतिशत स्थान भी नहीं दिये। अपने दल के अध्यक्ष के रूप में, एक बार एक यादव को और दूसरी बार एक गुप्ता को उत्तर-प्रदेश के मुख्यमंत्री पद के लिए मनोनीत कराया। यही स्थिति, उनके प्रशासनकाल में रही। वह हमेशा योग्य और ईमानदार व्यक्ति को प्रश्रय देते रहे, वह चाहे किसी भी जाति का हो। आपने सी. पी. आई. के ईमानदार नेता झारखंडे राय को अपने मंत्रि-मण्डल में स्थान दिया था। उनको किसी जाति विशेष के साथ अरुचि न थी, अरुचि थी केवल अयोग्यता, शिथिलता और बेईमानी से। वह पं. मदन मोहन मालवीय के प्रशंसक थे। यद्यपि उनको ज्ञात था कि मालवीय जी अपने आचरणों में, छुआछूत के पक्षधर थे, पर उनके उद्देश्य महान थे और नैतिक आदर्श उदात्त थे। यही चौधरी साहब को काम्य था। उनको देशभक्ति प्रिय थी, वैदिक आदर्शों का पालन रुचिकर था, आचरण की पावनता उनको अभिप्रेत थी। यही कारण है कि वह श्री सत्यप्रकाश मालवीय जी को बहुत उंचा स्थान देते थे और श्री हेमवती नन्दन बहुगुणा की कर्मठता के प्रशंसक थे। दूसरी ओर, उनको ऐसे ब्राह्मणों तथा जाटों से सख्त नफरत थी, जो जातीय संकीर्णता के दायरे में घिरे थे।

चौधरी साहब, अपने दैनिक आचरणों में, न तो धार्मिक आडम्बरों से ग्रसित थे, न सामाजिक रुढ़ियों से प्रभावित थे। दूसरी ओर, पुरोहिती मनोवृत्ति वाले ब्राह्मण कांग्रेसी-नेता, जो दावा करते थे और अपने भाषणों में जोर देकर धार्मिक तथा सामाजिक रुढ़ियों पर प्रहार किया करते थे, उनमें से एक बड़े नेता के यहां मेरे एक मित्र मुझे ले गये। मैंने देखा कि श्वेत-वस्त्रों में, विशेषतः एक

धोती में सजे, अपने शरीर के अवयवों पर चंदन के तिलक लगाये, ललाट पर त्रिपुण सजाये, हाथों में नीरांजना का थाल लिये, उनमें दीपक जलाये, नेताजी मंत्र बोलते हुए आरती कर रहे हैं और वेदमंत्रों के स्वस्ति-पाठ कर रहे हैं। मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही कि जनता में, धर्म-निरपेक्ष, रुढ़ि-मुक्त और मानव-मात्र के कल्याण के साथ गहराई से प्रतिबद्ध व्यक्ति की छवि बनाये रखने वाले नेता, व्यवहार में कितने संकीर्ण और रुढ़िग्रसित हैं। दूसरी ओर, चौधरी चरण सिंह का व्यक्तित्व था कि वह किसी रूढ़ि या अंधविश्वास के शिकार नहीं हुए। उनकी रुढ़ि तथा आडम्बरों से दूरी का एक ज्वलंत प्रमाण है—केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार के दौरान, एक बार कुछ मंत्रियों की योजना बनी कि वे वृन्दावन में रहने वाले एक सन्त का आशीर्वाद लेने जाएं। उस सन्त के यहां जो भी जाता था, वह उसके सिर पर अपने पैर का अंगूठा रखकर आशीर्वाद देते थे। तत्कालीन अखबारों में पढ़ने को मिला था कि कितने ही मंत्री, इसके लिए तैयार थे, पर चौधरी साहब इसके लिए तैयार न हुए। यह चौधरी साहब का सिद्धांत और कर्म की एकता का ज्वलंत उदाहरण था।

उनकी वेशभूषा नितान्त सामान्य, भोजन नितान्त साधारण और शाकाहारी। मांस और मदिरा का प्रवेश तो उनके घर की सीमा में भी वर्जित था। पालक, बथुआ, दालें, हरी सब्जी और बेसन की रोटियां उनके भोजन के पदार्थ होते थे। दूध तथा दही उनके प्रिय पेय थे। दूसरी ओर, उन पर आरोप लगाने वाले व्यक्ति रहते थे भारत की सांस्कृतिक भूमि पर, पर उनके व्यवहार और आचरण डूबे थे, पाश्चात्य संस्कृति के वातावरण में। एक प्रकार से, वे पाश्चात्य दार्शनिक शब्दावली में हिडोनिस्ट और भारतीय भाषा में चारु-दर्शन के अंग थे। आचार तथा व्यवहार की दृष्टि से, चौधरी साहब के जीवन की स्लेट बेदाग थी और उन पर आरोप लगाने वालों के जीवन के पृष्ठों पर अनेक खरोचें थीं। जहां तक, उनकी राजनीतिक ईमानदारी का प्रश्न है, जगत् जाहिर है कि उनका गठबंधन न तो साहूकार वर्ग के साथ था और न भ्रष्ट उद्योगपति के साथ। उनकी आय-स्त्रोत आम किसान था। देश की राजनीति में, वह किसान वर्ग के सर्वाधिक हितैषी थे। अतः किसानों के दिये धन से वह चुनाव लड़ा करते थे और अपने दल का खर्च चलाते थे। भारत की राजनीति में, कांग्रेस सबसे पहले धनिक वर्ग के समीप पहुंची। यही कारण है कि उसके अनेक नेता, जमाखोर, कालाबाजारियों, माफिया गिरोहों के लोगों या धार्मिक संकीर्णता के प्रतीक तांत्रिकों या ब्रह्मचारियों के प्रभाव में जकड़ गये और राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान देशभक्त, तपस्वी तथा शहीद कांग्रेस जनों के उच्च जीवन-मूल्यों से भटक गयी।

हमारे देश और इसकी महान जनता का दुर्भाग्य है कि स्वाधीनता के कुछ वर्ष बाद ही, भारत की राजनीति में वोट का महत्व हो गया। वोट पाने के लिए, अनेक बड़े-बड़े नेताओं ने तुष्टीकरण की नीति अपनाई। तात्पर्य यह है कि मत पाने के लिए, राष्ट्रीय हितों और लोक-कल्याण के सिद्धांत को ताक पर रखकर कुछ वर्गों, जातियों और धर्मावलम्बियों को संतुष्ट करके वोट लेकर कुर्सी पाने की नीति अपनाई। इस नीति को आगे बढ़ाने में श्रीमती गांधी भी अन्यों से पीछे न थीं। यही कारण है कि उन्होंने एक तीर से कई शिकार करने की योजना को कार्यान्वित किया। उत्तर-प्रदेश के मुरादाबाद आदि शहरों में हुए साम्प्रदायिक दंगों के प्रश्न पर उन्होंने एक ओर अपने सबसे बड़े प्रतिद्वंद्वी चौधरी चरण सिंह को पछाड़ने की बात सोची, दूसरे उनकी समस्त जाति को धार्मिक संकीर्णता से ग्रसित सिद्ध करने का प्रयास किया और तीसरी ओर एक जाति विशेष को, जो कांग्रेस की ढुल-मुल नीति से, कांग्रेस से दूर हट गयी थी, तुष्ट करके अपने साथ जोड़ने का प्रयास किया। राजनीति की यह दिशा, उदात्त जीवन मूल्यों से बहुत दूर की है। उक्त आरोपों का निराकरण 'जातिवादी कौन' पुस्तक कर चुकी है। उसका विश्लेषक यह बता चुका है कि दंगाइयों से, अल्पसंख्यकों को बचाने के प्रयास में, चौधरी साहब की जाति का एक अधिकारी मारा गया था। फिर भी, अपने उद्‌देश्यों को पूरा करने के लिए कुछ अधिकारियों को हटाया गया। जहां तक प्रश्न, जाट-जाति की राष्ट्रीयता, धर्म तथा आडम्बर-निर्पेक्षता और देश एवं उसकी संस्कृति के रक्षण और संवर्धन का है, वह किसी भी जाति से पीछे कभी नहीं रही, वरन् कई क्षेत्रों में, दूसरी जातियों से आगे ही रही है। हमारा इतिहास इस बात की साक्षी देता है कि सिकन्दर को, पंजाब की भूमि से लौटने के लिए विवश करने वाली क्षुद्रक और मालव जातियां थीं। चन्द्रगुप्त मौर्य उनका नेता था, जो स्वयं प्रख्यात जाट था। संस्कृत-तिब्बतियन भाषा में लिखी पुस्तक 'आर्य मंजुश्री मुलकल्प' के आधार पर डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल का ऐसा मत है।[1] इसी का समर्थन मिश्रबंधु करते हैं।[2] चन्द्रगुप्त के वंशधरों ने, भारतीय इतिहास को 'स्वर्ण-युग' प्रदान किया था। देश-विदेश के अनेक इतिहासकार, इस युग की शासन-व्यवस्था, सभ्यता, समृद्धि और सांस्कृतिक मानदण्डों की प्रशंसा करते हैं। शक्ति, शांति व्यवस्था और सांस्कृतिक विरासत से कोई इन्कार नहीं कर सकता। सिकन्दर के सीने पर, प्राणघातक घाव करने वाला व्यक्ति मल्ली गोत्र का एक जाट था। इसी घाव से सिकंदर की मृत्यु हुई थी। इसी जाट चन्द्रगुप्त

1. काशी प्रसाद जायसवाल, इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ. 52
2. मिश्रबंधु, बुद्धपूर्व भारत वर्ष का इतिहास, पृ. 372

ने मगध के भ्रष्ट, शोषक तथा लोकपीड़क राजानंद का वध करके लोक-हितैषी साम्राज्य की स्थापना की थी। चाणक्य के रूप में, उसको देशभक्त, संयमी, कुशल और त्यागी तथा तपस्वी ब्राह्मण मिल गया था, जो असली ब्राह्मण के गुण और ज्ञान से पूर्ण था, निश्चय ही वह ब्राह्मण-पुरोहितों के समान स्वार्थी, लालची, सत्ता के सुख का भोगी और धर्म की आढ़ में जन-समाज का शोषण करने वाला नहीं था।

चन्द्रगुप्त की परंपरा का पालन, बोलन दर्रे के समीप वाले कींकन क्षेत्र में बसे, खोखर गोत्र के जाटों ने किया था। पीछे के पृष्ठों में कहा जा चुका है कि इन्होंने दो सौ वर्षों तक अरब-सेनाओं के तूफान को भारत की सीमा में घुसने से रोका था। लेकिन भारत के तत्कालीन सामन्तों, उनके परामर्शदाता मंत्रियों और धर्म के ठेकेदार बने पुरोहितों ने, सरहद पर होने वाली, उस गतिविधि से कोई शिक्षा नहीं ली। उन्होंने यह सोचने और समझने की कोशिश नहीं की कि देश की स्वाधीनता और संस्कृति को कैसे बचाया जाना चाहिए। पुरोहिती-समाज मंत्रों का पाठ करता रहा, मंदिरों में शान के साथ पूजा करता रहा और सामंत लोग पुरोहित जी के मंत्र-बल का कवच ओढ़े और देवता की कृपा तथा वरदान का छत्र लगाये विलास में डूबे रहे, या एक-दूसरे को जीतने पर लगे रहे। परिणाम हुआ, सिंध पर मोहम्मद बिन-कासिम का हमला और ब्राह्मण राजा दाहिर का पतन। अरबों के इस आक्रमण से भी, देश के सामन्तों और उनके पुरोहित मंत्रियों ने कुछ नहीं सीखा। दैव का प्रकोप और भाग्य का खेल कहकर, सिंध के पतन को भुला दिया गया। कोई राजा या मंत्री, देश की सुरक्षा की ओर से, इतना बेखबर रह सकता है, इसका उदाहरण अन्यत्र मिलना शायद सम्भव न हो। लेकिन कटु सत्य यही है, सामंत तथा पुरोहित सोते रहे और अरबों का प्रवेश देश में होता रहा।

महमूद गजनवी ने, पेशावर के राजा जयपाल, उसके पुत्र आनन्द पाल और कई सामन्तों को हराया और ओहिंद पर अधिकार कर लिया।[1] इसके बाद, भाटी राजपूतों से 'भटिया' राज्य छीन लिया और मुलतान को ले लिया।[2] लेकिन इतने पर भी, बाकी देश सोता रहा। दरबारों में नृत्य और संगीत की तानें उठती रहीं और मंदिर में घंटों की गूंज होती रही। उधर महमूद तैयारी करता रहा। उसने त्रिलोचनपाल को कश्मीर की ओर खदेड़ कर पंजाब पर अधिकार कर लिया।[3]

1. जयचन्द्र विद्यालंकर, इतिहास प्रवेश, पृ. 241, सन् 1952
2. वही, पृ. 242
3. वही, पृ. 243

उसने अफगानिस्तान के हिन्दुओं को मुसलमान बनाया और फिर उसने 'थानेसर' पर धावा बोला।[1] फिर भी, यहां के शासक और उनके मंत्री सोते रहे। उसने मथुरा और कन्नौज को जीत लिया। पुरोहित लोग, कान दबाये पड़े रहे। न उनके मंत्रों ने काम किया और न देवता के वरदान ने।

इसके बाद, उसने सौराष्ट्र की ओर नजर उठाई। उसके भयंकर आक्रमण को देखकर भीम सोलंकी भाग गया। मालवा का राजाभोज भीम सोलंकी की मदद को नहीं आया और महमूद ने सोमनाथ के मंदिर को ध्वस्त कर दिया।[2] पुजारी और सामंतों की नाकें नीची हो गईं। उसको भारतीय वीरता का परिचय दिया केवल सिंध के किनारे बसे खोखर जाटों ने। जाटों ने उसकी सेना को बहुत सताया और उसका लूटा धन रास्ते में छीन लिया।[3] सन् 1029 में महमूद मर गया। महमूद की जीत और हिन्दू-सामंतों के धार्मिक स्थलों के पराभव से भी, परवर्ती सामंतों और उनके परामर्शदाताओं ने कोई पाठ नहीं पढ़ा। वे यथावत्, आपस में उलझते रहे और उनके परामर्शदाता देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अनुष्ठान करने के बहाने धन बटोरते रहे और दूसरी ओर गजनी में उभरती शाहबुद्दीन गौरी की ताकत से अज्ञात बने रहे।

सन् 1191 में, 'तरावड़ी' के युद्ध में गौरी को पराजित करके पृथ्वीराज सुख की नींद सो गया, फलतः दूसरे वर्ष, उसी मैदान में कैद हो गया। पृथ्वीराज चौहान की पराजय से भी अन्य सामंतों की आंखें नहीं खुलीं और कन्नौज का चन्देल जयचन्द्र भी गौरी के हाथों मारा गया। चौहान और चन्देलों को ठिकाने लगाने वाले शाहबुद्दीन गौरी को खोखर जाटों ने, सिंध के किनारे-किनारे गजनी लौटते समय मार डाला।[4] ये तथ्य, इस बात के प्रमाण हैं कि देश की स्वाधीनता और संस्कृति के साथ चौधरी चरण सिंह की जाति ने कभी समझौता नहीं किया। उसने अधिकांश आक्रमणकारियों को, भारतीय वीरता का पाठ पढ़ाया है और आप पढ़ेंगे कि समय पड़ने पर उसने जबरदस्त विरोध भी किया।

इसी तरह, भारत का समूचा सामन्ती वर्ग, उनके परामर्श-दाता कुलगुरु ब्राह्मण पुरोहित और मठों तथा मंदिरों के वैभव का भोग करने वाले तथाकथित धार्मिक, गौरी के गुलामों (दासों) के शासन में, कान-दबाये पड़े रहे, उनमें इतना साहस न था कि वे उनकी लोक-विरोधी नीतियों का विरोध करते। इसके ठीक विपरीत,

---

1. जयचन्द्र विद्यालंकार, इतिहास प्रवेश, पृ. 244, सन् 1952
2. वही, पृ. 244
3. वही, पृ. 244
4. वही, पृ. 286

मेरठ-मुजफ्फर नगर की बालियान खाप के जाटों की सर्वखाप पंचायत थी, जिसने दिल्ली के राठौर चौहानों की, गौरी से हार के बाद, अपने क्षेत्र की रक्षा तथा स्वाधीनता के लिए सन् 1201 ई. में, चार प्रस्ताव पास किए थे। पहला—'हम अपनी रक्षा करेंगे और धर्म की रक्षा के लिए प्राण दे देंगे, दूसरा था—एक लाख आदमियों की सेना खड़ी की जायगी, जो भविष्य में गौरी के आक्रमण से क्षेत्र को सुरक्षित रखेगी, तीसरा था—खापों में शांति और व्यवस्था कायम रखी जायगी और चौथा था, बारातों के साथ सशस्त्र पहरेदार होने चाहिए।'[1]

राठौर चौहान की हार से उत्पन्न अव्यवस्था, लूट, जनसंहार और अपमान से जनता को बचाने के लिए ही नहीं, वरन गौरी के बाद, गुलाम वंश के सुल्तान कुतुबुद्दीन द्वारा पंचायत पर लगाये गए प्रतिबन्धों को चुनौती देते हुए सर्वखाप पंचायत की बैठक देश-खाप (जाटों का गोत्र) की पंचायत बड़ौत के जंगल में, सन् 1197 में हुई थी। पंचायत को दबाने के लिए भेजी गई दिल्ली की सेना तथा पंचायत की सेना के 90,000 सैनिकों में घमासान लड़ाई हुई, जिसमें शाही सेना की हार हुई और फिर सुल्तान ने पंचायत से प्रतिबन्ध उठा लिया। उक्त लड़ाई में पांच हजार जाट सैनिक और चार हजार अन्य जातियों के सैनिक मारे गए।[2] इसी प्रकार चौगामा क्षेत्र के जाटों की एक पंचायत जून-जुलाई सन् 1191 में हुई थी, जिसमें यह संकल्प किया गया था, कि प्रत्येक पंचायत, अपने क्षेत्र के असहायों एवं आश्रयहीनों की रक्षा करे। उक्त तीनों, पंचायतों के निर्णयों से यह साफ प्रकट होता है कि देश के स्वाभिमान, गौरव और स्वतंत्रता की रक्षा में जाट-जाति कितनी सक्रिय थी और किस सीमा तक गैर-साम्प्रदायिक तथा जातीय संकीर्णता से दूर थी।

जाट-बहुल सर्वखाप पंचायत के सन् 1248 तथा 1297 के कतिपय प्रस्तावों का, राष्ट्रीय-सन्दर्भ में बड़ा महत्व है। सन् 1248 की पंचायत सुल्तान नसुरुद्दीन के लोक-विरोधी दृष्टिकोण के विरोध में हुई थी। चार प्रस्ताव पास किए गए थे। पहला-किसी भी व्यक्ति को शाही-सेवा के लिए बाध्य न किया जाय। दूसरा—हानिकारक करों को हटा दिया जाना चाहिए। तीसरा प्रस्ताव—किसी भी स्त्री को उसकी जाति की अनुमति के बिना न ले जाया जाये और चौथा—किसी भी शाही प्रशासक को जनता को सताने तथा हानिकारक कर लगाने की अनुमति नहीं होनी चाहिए।[3] सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड के अनुसार ये प्रस्ताव स्वीकार

1. डॉ. नत्थनसिंह (संपादक) उत्तर भारत के जाटों की शासन व्यवस्था, पृ. 218, सन् 1990
2. वही, पृ. 219
3. वही, पृ. 219

कर लिए गए थे। इतने ही महत्व के प्रस्ताव सन् 1297 की पंचायत के हैं। पहला, बढ़ा हुआ भू-राजस्व कोई नहीं चुकायेगा, दूसरा बारातों पर लगाये गए प्रतिबन्धों को स्वीकार नहीं किया जायेगा, तीसरा जजिया नहीं चुकाया जाना चाहिए और चौथा पंचायत की स्वतंत्रता के संबंध में है।[1] इस पंचायत में 125 प्रतिनिधि गूजर, 10 राजपूत, 98 अहीर, 22 सैनी और शेष अन्य जातियों के थे।[2] इस पंचायत का, शासन पर इतना दबाव पड़ा कि अलाउद्दीन खिलजी के प्रमुख अमात्य ने, प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। ये प्रस्ताव इस बात का भी स्पष्ट संकेत देते हैं कि राष्ट्र और धर्म की रक्षा तथा प्रतिपादन का दावा करने वाले लोगों से सर्वखाप पंचायत के लोग, देश की सांस्कृतिक तथा सामाजिक मर्यादा की रक्षा करने में कितने आगे थे और उनमें पुरोहितों की तरह जातिगत भेद-भाव लेशमात्र भी न था। चौधरी साहब का बचपन, इस पंचायत के क्षेत्र में ही व्यतीत हुआ था और उन्होंने पंचायत की एकता की भावना को आत्मसात कर लिया था।

पंचायत के उक्त प्रस्तावों ने, न केवल जजिया कर का ही विरोध किया था, वरन् शाही अधिकारियों द्वारा महिलाओं, विशेषतः नवविवाहिताओं, के अपहरणों को भी रुकवा दिया था। पंचायत की यह रचनात्मक राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक भूमिका थी। साथ ही, जातीय एकता का अनुपम उदाहरण था। इसी सन्दर्भ में, एक और घटना का उदाहरण दिया जा सकता है। यह घटना, सन् 1986 की है। उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा बिजली की दरें बढ़ा देने के विरोध में, भारतीय किसान-यूनियन के राष्ट्रीय अध्यक्ष चौधरी महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में, शामली, जनपद मुजफ्फर नगर के 'करमूखेड़ी' बिजली घर पर, किसानों द्वारा प्रदर्शन किया गया था, जिसमें पुलिस की गोली से दो-युवाओं की मृत्यु हुई थी। एक था, जाट-बालक रनवीरसिंह और दूसरा था, मुसलमान बालक अकबर। दोनों बालकों के, अंतिम संस्कार के बाद, शुक्रताल नामक स्थान पर, सभी जातियों के किसानों ने, गंगा में खड़े होकर तर्पण किया। यद्यपि किसान-सभी जातियों के थे, पर योजना के प्रवर्तक श्री टिकैत चौधरी साहब के राजनीतिक अनुकर्ता भी हैं। मूल बात यह है कि किसान और विशेष रूप से जाट-किसान, जातिवादी संकीर्णता का शिकार नहीं होता। उसके साथ हर जाति का व्यक्ति रहता है और आदर पाता है। उसके साथ, फर्श पर, हरिजन भी बैठता है, बाल्मीकि भी और मुसलमान भी। सर्वखाप पंचायत की सेना में तो एक हरिजन जनरल भी था। उसमें हर

---

1. सं. डॉ. नत्थन सिंह, उत्तर भारत के जाटों की शासनव्यवस्था, पृ. 220
2. वही, पृ. 221

कौम का व्यक्ति चौधरी भी होता था और पंचायत की बैठकों में महतर चौधरी का वही स्थान होता था, जो ब्राह्मण चौधरी का। किसान यूनियन की पंचायत की असहायों की सहायता करने तथा जातीय एकता को मजबूत बनाने की घटना अत्यन्त प्रशंसनीय है। जिला मुजफ्फर नगर के एक गांव से, एक मुस्लिम महिला का अपहरण किया गया। अपहृत महिला के घर वाले, सर्वत्र पुकार करके थक गए। अंत में, वे चौधरी महेन्द्र सिंह टिकैत के पास गए। चौधरी टिकैत ने, गंगानहर के किनारे पंचायत बुलाई और चुनौती दी कि यदि महिला को लौटाया नहीं गया, तो अपहरणकर्ताओं का क्षेत्र में रहना कठिन हो जायेगा। महिला वापस तो आई पर जीवित नहीं, उसका शव मिला। ताकि वह, अपहरणकर्ताओं के विषय में जानकारी न दे सके। इस घटना से, यह बात साफ हो जाती है कि चौधरी और भारतीय किसान-यूनियन न तो जातिवादी संकीर्णता में विश्वास रखते हैं और न दुःखी तथा पीड़ितों की सहायता करने से पीछे हटते हैं। इस प्रकार की घटना तथा नीतियों के उदाहरण ब्राह्मण पुरोहितों अथवा जातीय संकीर्णता पीड़ित ब्राह्मण समाज में मिलते हैं। यहां, यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि चौधरी महेन्द्र सिंह टिकैत को संघर्ष करने की प्रेरणा चौधरी चरण सिंह से ही मिली है।

इन दोनों, किसान-नेताओं की, जातीय एकता तथा लोकहित की तुलना में, वसिष्ठ तथा परशुराम जैसे ऋषि और चत्र तथा पुष्यमित्र जैसे राजा और उनके कार्य फीके पड़ जाते हैं। पहले यह कहा जा चुका है कि आगरा कॉलिज के छात्र-जीवन से लेकर गृहमंत्री और बाद में प्रधानमंत्री तक के जीवन में, चौधरी साहब ने सदैव हरिजन द्वारा बनाया खाना खाया, किसी राजनीतिक नेता पर चौधरी साहब ने जातिवादिता का आरोप नहीं लगाया। अपने उपर लगाये गए आरोपों का उत्तर देने के लिए विवश अवश्य होना पड़ा। वह कभी ऐसी मीटिंग, सभा तथा सम्मेलन में शामिल नहीं हुए, जिसका उद्देश्य केवल जाति हित या जागरण से था। उन्होंने कभी अपनी जाति के किसी अयोग्य, यहां तक कि योग्य व्यक्ति तक की न तो संस्तुति की और न उसे किसी पद पर ही बिठाया। अपने दल के ही, उत्तर प्रदेश के एक नेता से, वह इस बात पर नाराज हो गए थे कि उसने, अपने लिए खरीदे एक मकान की राशि, उनको यथार्थ से कम बताई थी। उनको जब अधिक राशि का पता लगा तो उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि यह राशि, उनके आय स्रोत्रों से अधिक है। इस नाराजगी का फल यह हुआ कि उस व्यक्ति को नेता तथा पद की दौड़ में, कभी आगे नहीं बढ़ने दिया। यहीं नहीं, उत्तर-प्रदेश में अपना मंत्रि-मण्डल बनाते समय, आगरा के एक विधायक

का नाम उप-मंत्रियों की सूची से इसलिए निकाल दिया कि वह व्यक्ति शराब पीता था। जो व्यक्ति, नशाखोरी और भ्रष्टाचार का, इस सीमा तक कट्टर शत्रु हो, वह जातीय संकीर्णता से ग्रसित नहीं हो सकता। कांग्रेस दल में पनपते भ्रष्टाचार, संकीर्णता और मूल्यहीन राजनीतिक प्रवृत्ति ने, उनको कांग्रेस छोड़ने के लिए विवश भी किया था। आधुनिक समय के अनेक घोटालों में नामजद कई कांग्रेसी नेताओं से उनका चिंतन तथा कर्म पूरी तरह भिन्न था। उनकी प्रतिबद्धता देश की समृद्धि और आम जनता की खुशहाली के साथ थी। यदि ऐसा न होता तो वह पंडित नेहरु और श्रीमती गांधी की प्रशस्तियां गाते रहते और अन्य लोगों के समान, प्रदेश या केन्द्र में, अपने लिए स्थान बनाये रहते। लेकिन, अन्य नेताओं के समान, वह देश को आबादी के बहु-संख्यक भाग—किसान-मजदूर तथा मझोले व्यापारी वर्ग को, केवल प्रगति के आश्वासनों पर, जीवित रखने वाले न थे। उनको पूरा विश्वास था कि किसान की समृद्धि में राष्ट्र और राष्ट्र के प्रत्येक वर्ग की समृद्धि निहित होती है। यही कारण है कि आपने उत्तर-प्रदेश में जमींदारी-उन्मूलन का कानून बनवाया और उन्मूलन की प्रक्रिया को पूरा किया। वह न तो सामूहिक कृषि के पक्ष में थे और न अत्यन्त छोटी काश्त के। उनकी दृष्टि में, सामूहिक खेती में, व्यक्तिगत उत्साह और बल कम हो जाता है, फलतः राष्ट्र के सामने खाद्यान्न की समस्या पैदा हो सकती है। उनका यही तर्क, नागपुर कांग्रेस-अधिवेशन में, पंडितजी के सामूहिक खेती के प्रस्ताव के विपरीत था। पंडित नेहरु के मत के विरोध का परिणाम, उनके व्यवित्तगत राजनीतिक जीवन्न पर हानिकारक अवश्य पड़ा, लेकिन राष्ट्र खाद्यान्न के संकट से बच गया, अन्यथा सोवियत रूस के समान विखंडन की प्रक्रिया का विषय बन सकता था। बाद में, पंडित जी ने, स्वयं सामूहिक-कृषि-विषयक अपने मत में परिवर्तन कर लिया था। इससे, एक बात स्पष्ट हो जाती है कि देश की प्रगति और समृद्धि की दिशा, अन्यों की अपेक्षा, चौधरी साहब के सामने अधिक स्पष्ट थी। कुटीर उद्योगों के विकास पर उनका बल देना, इसी दिशा का एक अंग था। उनका मत था कि एक उद्योग के उत्पादन का लाभ उद्योग के मालिक को जाता है और कुटीर उद्योगों के उत्पादन से, उनमें लगे असंख्य आदमी लाभान्वित होते हैं। जापान की तरह वह भारत की जनता को खुशहाल बनाने का मार्ग खोजने के पक्ष में थे। पंडितजी ने समाजवादी समाज का नारा लगाया, वह नारा अधिक मात्रा में, व्यावहारिक स्तर पर नारा ही रह गया। सार्वजनिक क्षेत्र के अधिकांश उद्योग बीमार हो गए और व्यक्तिगत हाथों में जाने की प्रक्रिया में हैं। पंडित जी का, सार्वजनिक उद्योगों की स्थापना का विचार स्तुत्य था। उसके उत्पादनों से देश का हित ही होता,

लेकिन प्रशासनिक योग्यता और कार्यगत ईमानदारी के अभाव में, देश को लाभ नहीं पहुंच सका। इसके लिए, नेहरु परिवार के तीन प्रधानमंत्री उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकते।

देश की समृद्धि के लिए, लोकहितकारी चिंतन जितना जरूरी होता है, उतना ही जरूरी, उस चितन को मूर्तरूप देने वाली ईमानदार प्रक्रिया भी होती है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि देश के कई मंत्रियों से अधिक ईमानदार प्रक्रिया के धनी चौधरी साहब थे। वह उत्तर-प्रदेश सरकार में कई विभागों के मंत्री रहे और कुछ समय तक मुख्यमंत्री भी, पर उनके विभाग में न तो भ्रष्टाचार पनपा और न कोई घोटाला पैदा हुआ। यही नहीं, अंग्रेजी-शासन की बेईमान धरोहर के प्रतीक, प्रदेश भर के पटवारियों को घर बिठा देना उनका ही काम था। आज के कई कांग्रेसी मंत्रियों पर कानून भंग और राजनीतिक मूल्यहीनता के आरोप लगे हैं। कोई समस्त नियम और परंपराओं को तोड़कर भवन-आवंटन का दोषी है, कोई पैट्रोलपंप या गैस-एजेंसियों की गलत मंजूरी का, कोई चीनी घोटाले का दोषी है, तो कोई मनमौजीपन से संचार विषयक सामग्री क्रय करने का, कोई जालसाजी के आरोपों के घेरे में है और कोई चारा घोटाला के, लेकिन चौधरी साहब का, बड़ा-से-बड़ा विरोधी भी उन पर बेईमानी और भ्रष्टाचार का आरोप कभी नहीं लगा पाया। राष्ट्र की समृद्धि के साथ उनकी प्रतिबद्धता के सामने कोई प्रश्न-चिह्न नहीं लग पाया है।

राष्ट्र की प्रगति और समृद्धि का तात्पर्य होता है, प्रत्येक जाति, वर्ग, समुदाय और धर्म के मानने वाले लोगों की समृद्धि। जिस देश और समाज में, हर जाति और धर्म के लोगों को, शिक्षा और जीविका का साधन उपलब्ध करने का अधिकार होता है, जहां प्रत्येक जाति के व्यक्ति को सम्मान मिलता है, वही समाज और राष्ट्र श्रेष्ठ माना जाता है। लेकिन हमारे देश का बहुचर्चित तथा बहुप्रशंसित रामराज्य का समाज, श्रेष्ठता की कसौटी पर खरा इसलिए नहीं उतरता कि उस समाज में शूद्र को तपस्या करने का अधिकार न था और ऐसा करने पर, 'शम्बूक' को मार डालने के लिए, मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाने वाले राम को, ब्राह्मणों ने अनुप्रेरित और विवश किया था। इसी प्रकार, ब्राह्मण ऋषि परशुराम कर्ण को, ब्राह्मण-पुत्र होने के धोके में धर्नुविद्या की शिक्षा तो दे देते हैं लेकिन जैसे ही उनको कर्ण का गैर-ब्राह्मण होने का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही, उसको शाप देते हैं कि वह अर्जित ज्ञान को भूल जायेगा। यथार्थ में, ऐसा भले ही न हुआ हो, पर पुराणकार ब्राह्मणों ने प्रचारित यही किया कि शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, वह शिक्षा भले ही शस्त्र-संचालन की हो, केवल ब्राह्मण को है। ब्राह्मण-समाज

की जातीय संकीर्णता का यह ज्वलन्त उदाहरण है।

यदि, केवल यही एक या दो-उदाहरण ऋषि तथा पुरोहित कहे जाने वाले ब्राह्मण समाज की जातीय संकीर्णता के होते तो उनको अपवाद माना जा सकता था, लेकिन उनकी जातीय संकीर्णता से तो मनुस्मृति, 'विष्णु स्मृति', 'बृहस्पति', 'आपस्तम्ब स्मृति', 'कौटिल्य' और 'महाभारत' आदि ग्रन्थ भरे पड़े हैं। अपनी जाति की श्रेष्ठता, असीम दैवी शक्ति, मंत्र-बल की क्षमता और दान-दक्षिणा के बल पर, घोर पापी को भी स्वर्ग भेजने की ताकत का जितना प्रचार ब्राह्मण-समाज के संकीर्ण बुद्धि वाले आत्म केन्द्रित वर्ग ने किया है, उसकी दूसरी मिसाल, इस देश में नहीं मिल सकती। कुछ मामलों में तो ब्राह्मण राजा और औरंगजेब की धार्मिक संकीर्णता से भी आगे निकल गए हैं। इसके दो प्रमाण पर्याप्त होंगे, एक है, सिंध का राजा 'दाहिर' और दूसरा है, शुंगवंश का संस्थापक 'पुष्यमित्र'। 'दाहिर' अपनी मेद तथा जाट जाति की जनता को, पूरे वस्त्र पहन कर निकलने तक की अनुमति नहीं देता और न सामाजिक तथा धार्मिक अनुष्ठान सम्पादन करने की। ऐसी स्थिति में, क्या उस राज्य को, लोक-हितैषी राज्य कहा जा सकता है और ऐसे राजा का विरोध करने वाली जनता को राष्ट्र-विरोधी माना जा सकता है? हर विवेकशील व्यक्ति, जातीय गर्व में, विवेकहीनता की स्थिति तक पहुंचे शासक ही को दोषी ठहरायेगा।

यही स्थिति, ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र की है। उसको, मौर्यवंश के दुर्बल और विलासी राजा बृहद्रथ को मारने के लिए तो क्षमा किया जा सकता है, क्योंकि उसने एक सशक्त शासन की स्थापना कर दी थी, किंतु उसको बौद्धों तथा जैन श्रवणों की हत्याएं[1] करने या कराने के दोष से, मुक्त नहीं किया जा सकता। उसका यह कार्य, स्पष्टतः जातीय संकीर्णता का प्रतीक है। दिव्यावदान[2], के अनुसार तो उसने शाकल (स्यालकोट) में जाकर यह घोषणा की थी कि जो कोई श्रवण का सिर काट कर मुझे देगा, उसे मैं सौ दीनार पारितोषिक दूंगा।[3] इस घोषणा की प्रकृति के विषय में, अतिश्योक्ति हो सकती है, लेकिन इसमें, कोई शंका नहीं कि उसने बौद्धों के वध कराये। यह तथ्य, अपने आप में, उसकी जातीय संकीर्णता का प्रमाण देता है। यदि, उसकी उक्त घोषणा में, लेश-मात्र भी सत्य है तो यह अहमद शाह अब्दाली की उस घोषणा से कम अमानवीय और जातीय संकीर्णता से कम नहीं है, जिसमें अब्दाली ने अपने प्रधान-सेनापति जहांन खां

---

1. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, भारत का प्राचीन इतिहास, भाग-2, पृष्ठ 589
2. वही, पृ. 589
3. वही, पृ. 589

तथा उसके समर्थक दिल्ली के तत्कालीन वजीर नजीबुद्दौला को हुकम दिया था—'जहां भी पहुंचें, लूटमार व कत्लेआम का ताण्डव मचा दो। लूट में जो भी माल-ओ-सामान उनके हाथ लगेगा, वह उसका ही समझा जायेगा। जो भी सैनिक काफिरों का सिर काट कर लावे, उसको प्रधानमंत्री के डेरे के सामने लाकर डाल दे, वहां उनकी एक मीनार बनाई जाय। सरकारी खजाने से उसको प्रत्येक सिर की कीमत पांच रुपया पुरस्कार में दी जायेगी।[1] 'पुष्यमित्र' और अहमदशाह अब्दाली दोनों के आदेशों का मूल स्वर दूसरी जाति, धर्म और आस्था के लोगों का कत्ल करना है। इंसान का खून बहाने वाला आदेश ईश्वर या अल्लाह का नहीं हो सकता, वह केवल एक हैवान का ही हो सकता है। निर्दोष इंसानों के प्राणों का हरण करने वाला एक अल्लाह का मानने वाला होने का दावा करता है और दूसरा परमपिता परमेश्वर का, लेकिन आज के मानववादी व्यक्ति के लिए दोनों ही मौत, कत्लेआम है। अतः यह कहा जा सकता है कि इंसान से घृणा करने वाली प्रवृत्ति, न तो पुष्यमित्र की मान्य हो सकती है और न अब्दाली की। इसलिए दोनों की परम्परा के अनुयायी जातिवादी, देश के लिए, हितकारी नहीं हो सकते। देश और समाज के लिए हितकारी वही हो सकता है, जो हर जाति और धर्म के इंसान को गले लगाता हो, उसके दुःख दर्द में उसकी सहायता करता हो और मुसीबत के समय में, उसके लिए ढाल बनकर, खड़ा हो जाता हो। निश्चय ही, पुष्यमित्र और अब्दाली दोनों ही, असहायों के लिए ढाल नहीं, मौत के कुएं थे। असलियत में उनको इंसानियत का दुश्मन भी कहा जा सकता है।

कहा जाता है कि जब राजनीतिक स्वार्थों की आंधी चलती है, तब उच्च मानवीय मूल्यों की चादर उड़ जाती है। यह चादर उस समय उड़ गई थी, जब पुष्यामित्र पुरोहितों के लिए हितैषी, यज्ञ की परम्परा को फिर से जारी कराने के लिए, शान्ति और मानवता के रक्षकों को, तलवार के घाट उतार रहा था। यह चादर उस समय भी उड़ गई थी, जब श्रीमती इंदिरा गांधी गरीबी हटाओ का आकर्षक नारा लेकर जनता को झूठे आश्वासनों का शरबत पिला रही थीं और जब जनता का उन आश्वासनों से मोहभंग हो गया तो आपातकाल का बज्रपात कर रही थीं। साथ ही, अपनी विसंगतियों के दुःखद परिणामों के लिए, अपने राजनीतिक विरोधियों को, कोस रही थीं। उनकी इसी असंगत चिंतन प्रक्रिया का परिणाम था चौधरी साहब जैसे ईमानदार और जातीय एकता के कट्टर पक्षधर

---

1. सर यदुनाथ सरकार, मुगल साम्राज्य का पतन, भाग-2, पृ. 78, सरदेसाई, खण्ड 2, पृ. 502, डॉ. नत्थनसिंह, इतिहासपुरुष : महाराज सूरजमल, पृ. 90-91, सामिन (इंडि. एन.) पृ. 51, के. आर. कानूनगो, जाट इतिहास, सं. डॉ. नत्थन सिंह, पृ. 60

जैसे लोगों पर जातिवादी होने का आरोप लगाना।

'परशुराम' और 'पुष्यमित्र' के जातीय तथा धार्मिक भेद-भावपूर्ण चिंतन तथा कर्म के विपरीत, मुगल-कालीन भारत के एक हिन्दू राजा के कर्म और विचार हैं, जो विपत्ति के समय, उन हिन्दूओं एवं मुसलमानों को भी शरण देता है, जो एक समय उसकी सत्ता के जबर्दस्त विरोधी थे और उसको बन्दी बनाने तथा उखाड़ने पर तुले हुए थे। वह राजा और कोई नहीं, भरतपुर का नरेश राजा सूरजमल था, जो महान क्रान्तिकारी–महायोगी श्रीकृष्ण का अनुयायी था और उसने भी उसी जाति जन्म लिया था, जिसमें चौधरी चरण सिंह जन्मे थे।

यह भी सम्भव हो सकता है कि इतिहास के छात्र होने के नाते, चौधरी साहब सूरजमल की उस नीति से प्रभावित हुए हों, जिसका मूलस्वर मंदिर और मस्जिद को समान आदर देना था। हिन्दू पातशाही के कट्टर समर्थक, मराठा सेनापति सदाशिव राव भाउ, के इस सुझाव का आपने विरोध किया था कि मथुरा की मस्जिद को खड़ा नहीं रहने दिया जाना चाहिए था।[1] आपने मस्जिद को भी सुरक्षित रखा था और पेशवा बाजीराव की प्रेयसी मस्तानी को भी, उस समय शरण दी थी, जब वह मराठा-गृह कलह के फलस्वरूप निराश्रित होकर भरतपुर आश्रय पाने के लिए आई थी। भरतपुर की मस्तानी सराय आज भी उसकी साक्षी है। यही नहीं, मराठा-सेना में, अब्दाली के विरुद्ध लड़ते हुए मारे गए, मस्तानी के पुत्र के नाम पर, मस्तानी सराय के ठीक सामने, मस्जिद बनवा देना भी सूरजमल की उदार तथा गैर जातिवादी नीति का परिचायक है।

इसके अलावा, भारत में हिन्दू जाति और संस्कृति के ध्वंस पर, इस्लामिक राज्य की नयी नींव॰ रखने के प्रयासों में संलग्न, नजीब, शाह बलीउल्लाह और उनके सरपरस्त अब्दाली को, कूटनीति एवं सैनिक शक्ति के बल पर देश से बाहर जाने के लिए विवश करने वाले जाट ही थे, पुरोहिती कर्म में संलग्न लोग नहीं। चौधरी साहब, उस व्यक्ति की नीति पर चलने वाले कुशल राजनीतिक नेता थे, जो अपने घोर शत्रुओं को भी शरण देकर अपनी इंसानियत का प्रमाण प्रस्तुत कर सकता था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सन् 1754 में कुम्हेर के किले पर आक्रमण करने वाले मल्हार राव होल्कर को भी भरतपुर के किले में सुरक्षा मिलती है और सूरजमल को अपमानित करने तथा बन्दी बनाने का प्रयास करने वाले सदाशिवराव भाउ की पत्नी पार्वती देवी को भी। जाट लोग,

1. उपेन्द्र नाथ शर्मा, जाटों का नवीन इतिहास, भाग-2, पृ. 396; इमाद पृ. 78,
   के. आर. कानूनगो, जाटों का इतिहास, पृ. 124-125
   डॉ. नत्थनसिंह, इतिहास-पुरुष महाराजा सूरजमल, पृ. 105

विपत्ति में पड़े हजारों मराठा सैनिकों और सरदारों को उचित आदर देना भी जानते हैं। पानीपत की तीसरी लड़ाई की त्रासदी से पीड़ित मराठों के साथ इंसानियत का व्यवहार करने वाले जाटों का कीर्ति से इतिहास भरा पड़ा है। मराठा या हिन्दू ही नहीं, महाराज सूरजमल का घोर शत्रु 'इमाद' भी विपत्ति में भरतपुर में शरण लेता है और उसको शरण मिलती भी है। देखिए, उपेन्द्रनाथ शर्मा, जाटों का नवीन इतिहास, भाग-2, पृष्ठ 369-370। ये तथ्य, इस बात का प्रमाण देते हैं। मौर्य एवं गुप्त काल के समान, वर्तमान काल में भी, जाट पहले देश और समाज के हित में सोचता है। शहीदे-आजम भगतसिंह भी इसी पथ के पथिक थे। चौधरी छोटूराम का उदाहरण भी हमारे सामने है। वह साहूकार हिन्दुओं का समर्थन न करके, गरीब मुसलमान और गरीब हिन्दुओं को एक मंच पर लाते हैं। दोनों के आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए, ऐसे शासन का निर्माण करते हैं, जिसमें जिन्ना की मुस्लिम लीग केवल दो और लाला लाजपत राय की कांग्रेस सिर्फ बीस स्थान प्राप्त करती है।

उपर दिए गए सभी तथ्य, इस बात की ओर इंगित करते हैं कि वह जाति, जिसमें चौधरी साहब ने जन्म लिया था और वह परिवेश, जिसमें वह पले थे, जातिवादी संकीर्णता से पूर्णतः मुक्त था। अतः न तो चौधरी साहब ने जातिवाद को उकसाया और न किसी अन्य की जातिवादी संकीर्णता को सहारा दिया। वह ईमानदारी के साथ कार्य करने और लोकविरोधी ताकतों का, खुले तौर पर विरोध करने में कभी पीछे नहीं रहे। उनकी दो-टूक ईमानदारी और समाज-हित की चिंता को, कोई जाटपन कहे, तो इसमें उनका कोई दोष नहीं है।

यदि, इस देश की केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने, चौधरी चरण सिंहजी की आर्थिक नीतियों पर गम्भीरता के साथ विचार तथा आचरण किया होता, तो देश से गरीबी अवश्य दूर हो गई होती और देश घरेलू तथा बाहरी, सरमायेदारों की दासता की दिशा की ओर बढ़ता हुआ न दिखाई पड़ता।

चौधरी चरण सिंह द्वारा रचित कृतियां

एवोलिशन ऑफ जमींदारी (1947)

जमींदारी उन्मूलन (अनुदित)

हाउ टू एवोलिश जमींदारी : हिच एल्टरनेटिव

सिस्टम टू एडॉप्ट (1958)

एग्रेरियन रिवोल्यूशन इन यू॰ पी॰ (1958)

उत्तर प्रदेश की भूमि-व्यवस्था में क्रांति (1958)

हमारी गरीबी कैसे मिटे? (1961)

इंडियाज पॉवर्टी एण्ड इट्स सोल्यूशन (1964)

इण्डियाज इकोनॉमिक पॉलिसी : दि गांधियन ब्ल्यूप्रिंट (1978)

भारत की अर्थनीति : गांधीवादी रूपरेखा (अनुदित)

इकोनॉमिक नाइटमेयर ऑफ इंडिया : इट्स कॉजेज एण्ड क्योर

प्रथम संस्करण (1981), द्वितीय संस्करण (1984)

भारत की भयावह आर्थिक स्थिति : कारण एवं निदान (अनुदित)

लैण्ड रिफॉर्म्स इन यू॰ पी॰ एण्ड दि कुलक्स (1986)

किसान ट्रस्ट के अन्य प्रकाशन

जातिवादी कौन : एक विश्लेषण
प्रथम संस्करण (1982), द्वितीय संस्करण (1982)
तृतीय संस्करण (1986), चतुर्थ संस्करण (1991)

भारत का आर्थिक पतन : कारण एवं समाधान (1984)

शिष्टाचार
प्रथम संस्करण (1984), द्वितीय संस्करण (1994)

राष्ट्र की दशा
प्रथम संस्करण (1985), द्वितीय संस्करण (1986)

आर्थिक विकास के सवाल और बौद्धिक दिवालियापन? (1986)

संघर्षों से जूझते दीप स्तम्भ की गाथा
प्रथम संस्करण (1987), द्वितीय संस्करण (1994)

चौधरी चरण सिंह : विशिष्ट रचनाएं
प्रथम संस्करण (1988), द्वितीय संस्करण (1990)
तृतीय संस्करण (1993)

उत्तर प्रदेश में भूमि सुधार और कुलक वर्ग (अनुदित) 1994

चौधरी चरण सिंह : स्मृति और मूल्यांकन (1995)

चौधरी चरण सिंह : सूक्ति और विचार (1995)

धरा-पुत्र (काव्य संकलन) (1996)

विष्णु शरण दुबलिश (1996)

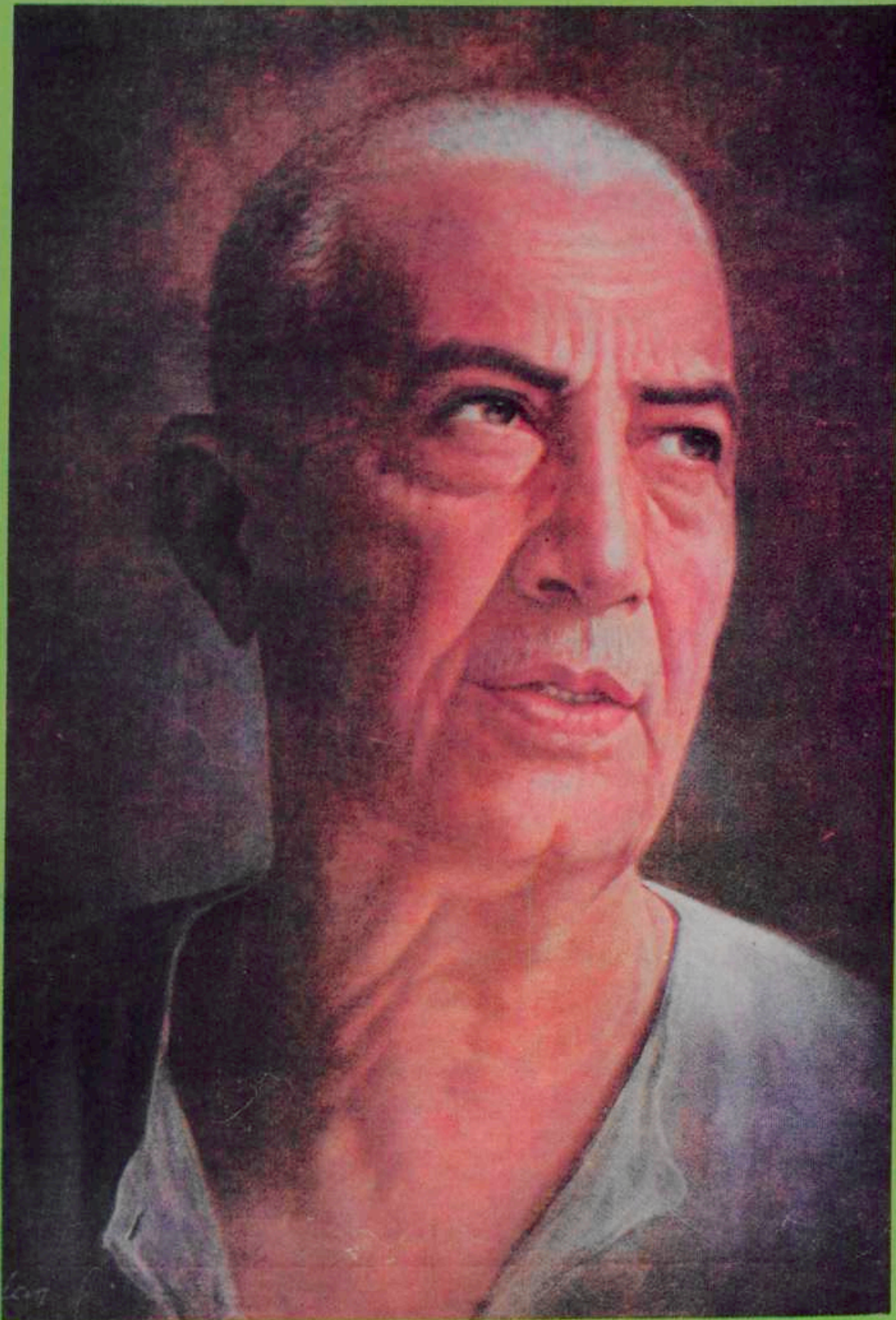

किसान ट्रस्ट